

भारत का जल धर्म

लेखक
अरुण कुमार 'पानीबाबा'

संपादक
रवीन्द्र कुमार पाठक

दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद
(साउथ एशियन डॉयलॉग्स ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी)

© New Politics Series, 2015

ISBN : 978-81-904474-7-8

प्रकाशक :

दक्षिण एशियाई हरित स्वराज संवाद

(साउथ एशियन डॉयलॉग्स ऑन इकोलोजिकल डेमोक्रेसी)

सीमेनपू फाउंडेशन, फिनलैंड का वित्तीय सहयोग एवं

वसुधैव कुटुम्बकम् प्रा. लि. का प्रबंधकीय सहयोग

बी ई – 14 ए, डी.डी.ए. फ्लैट्स,

मुनिरका, नई दिल्ली – 110067

Published by

South Asian Dialogues on Ecological Democracy (SADED)

(With financial support from Siemenpuu Foundation, Finland &

Managerial support from Vasudhaiva Kutumbakam P. Ltd.)

B E - 14 A, D.D.A. Flats,

Munirka, New Delhi- 110067

Phone: 011- 26101580

Email: networkscommunication@gmail.com

समर्पण

कुँवर नरपत सिंह राठौड़ एवम् हम्मीरा राम भील की पुण्य स्मृति में
जल विद्या के प्रथम गुरु भगत पूनाराम के लिए

संपादकीय

पिछली शताब्दियों की राजनैतिक गुलामी एवं वर्तमान आधुनिकता—उपभोक्तावादी साइंस—टेक्नोलॉजी के सम्मोहक प्रभाव में लोक प्रचलित विद्या और ज्ञान को वर्तमान प्रबुद्ध समाज ने नकार दिया। इतना ही नहीं, वर्तमान लोक जीवन में प्रचलित सिंचाई, शिल्प, वस्त्र निर्माण, धातु शोधन आदि अनेक विद्याओं के अस्तित्व तक को नकारने की मूर्खता को ही बुद्धिवादी, मॉर्डन, सेक्युलर आदि कहलाने का आधार बना लिया। इसके अनेक विनाशकारी परिणाम प्रकट हैं फिर भी वैकल्पिक दृष्टि की समझ एवं उस पर विश्वास के अभाव में व्यापक सामाजिक पहल नहीं हो पाई है। इसी दृष्टि से, इसी सम्मोहन में इतिहास भी लिखा गया और हद पार कर 'प्राचीन' तथा 'परंपरा' को इतिहास का पर्यायवाची बताया जाने लगा। प्राचीन बातों, व्यवस्था या समाज के अस्तित्व पर तो शक हो भी सकता है लेकिन जो काम आज भी चलन में हों तथा कारगर हों, उनके अस्तित्व तथा औचित्य को नकारने को आप क्या कहेंगे? जो नाम देना और जैसा समझना चाहें समझ सकते हैं।

इस मानसिकता, ऐसे मूल्यों और उन पर आधारित दुराचार के विरुद्ध भारत के विभिन्न बौद्धिक क्षेत्रों के लोगों ने अपनी—अपनी आवाज बुलंद करनी शुरू की और कुछ सज्जन लोगों ने परंपरा तथा लोक ज्ञान की बातों तथा विद्या को सम्मान तथा स्वीकृति के साथ संगठित स्वर भी दिया।

आज पानी के मामले में न केवल लापरवाही है बल्कि एक गहन उदासी भी छाई हुई है और अपनी परंपरा तथा लोक ज्ञान पर से भरोसा उठता जा रहा है कि जब आधुनिक साइंस एवं टेक्नोलॉजी जल संबंधी समस्याओं, जैसे—अभाव, बाढ़, प्रदूषण आदि का समाधान नहीं कर सकता तो अब कुछ नहीं हो सकता। शायद इसी नारकीय स्थिति में दुख भोगना ही हमारी नियति है। समाज और सरकारें हारी—थकी सी लगती हैं। इस गहन उदासी एवं हार से निकलना जरूरी है। आज पानी संबंधी अनेक मुद्दे और योजनाएँ चर्चा में हैं। उनकी प्रस्तुति, प्रचार और समर्थन तीनों मायावी

हैं। माया—ज्ञान एवं भ्रम का मिश्रण। यह पुस्तक इसी 'महाठगिनी मिथ्या रूपी माया' के वास्तविक स्वरूप को देखने, समझने और पुनर्विचार करने के प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत है।

इसमें भारतीय भूगोल और समाज के वैविध्य, उसकी वास्तविकता तथा श्रद्धा तीनों को सादर स्वीकार किया गया है। श्रद्धा के बिना अनुराग, और उसके बिना प्रकृति या समाज किसी का संरक्षण संभव नहीं है। अतः श्रद्धा एवं भक्ति पक्ष को भी भौतिक से कम महत्व नहीं दिया गया है। इसी नीयत से पानी बाबा की यह किताब आपके सामने है।

अरुण कुमार 'पानीबाबा' ने भारत के सुदूर अंचलों की लंबी यात्राएं और लोक जीवन तथा उसकी समस्या समाधान प्रणाली पर लंबी—लंबी वार्ताएं की हैं। वे अनुभवी पत्रकार, राजनीतिज्ञ, पर्यावरण विशेषज्ञ होने के साथ पर्यावरण पक्षीय सामाजिक कामों में सक्रिय रहे। अभी अस्वस्थ होने के नाते लिखने—पढ़ने—बोलने तक सीमित हैं। उनकी शारीरिक सक्रियता कम हो गई है। 'पानीबाबा' उन लोगों में से एक प्रमुख व्यक्ति हैं, जिन्होंने पर्यावरण की चिंता की, साथ ही स्थानीय, आंचलिक, परंपरागत लोक विद्या को आधुनिक प्रबुद्धों के बीच अपने निरंतर लेखन तथा संभाषण से विचारणीय मुद्दा बनाया। इसी क्रम में मेरा भी उनसे संपर्क हुआ।

यह पुस्तक विभिन्न अवसरों पर विभिन्न संदर्भों में लिखे गए उनके आलेखों के संपादित अंशों पर आधारित है। अतः उनके पुराने मित्रों तथा किसी पाठक को लग सकता है कि इसके कुछ अंश पढ़े हुए या 'पानीबाबा' के मुख से सुने जान पड़ते हैं। यह स्वाभाविक ही है। बस इस बार की तारतम्यता अलग है। इस बार लंबी कथाओं और रोचक ज्ञानवर्धक वार्ताओं के साथ उनसे निकले सिद्धांतों, सूत्रों तथा कार्यप्रणाली को यथा संभव संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। ऐसी सामग्री ही इस पुस्तक का मुख्य भाग है। लोक वार्ताएं किताबी ज्ञान के उलझे विस्तार से अलग, विज्ञान की सरल, संगठित, वास्तविक और व्यावहारिक समझ की अभिव्यक्ति हैं। ये परंपरागत विज्ञान का दर्शन और समाज शास्त्रीय सूत्र हैं। इस पुस्तक का मूल प्रतिपाद्य पानी, उसकी समझ, उसके वाहक, संवाहक, भंडारी, रक्षक तथा दूषकों का आचार—व्यवहार है। इस प्रस्तुति में अनेक ऐसी जानकारियां सम्मिलित हैं, जो

कई बार अनजानी और विस्मयकारी लगेंगी क्योंकि उस तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है।

पाठक पढ़ने के पूर्व ही इस बात से सहज हो लें कि प्रचलित राजनीति, सतही और नकली बौद्धिकता के जुमलों की यहाँ न परवाह की गई है और न उन्हें सही ठहराने की कोशिश। मॉडर्न साइंस तथा परंपरागत लोक ज्ञान-विज्ञान दोनों की युक्तिसंगत बातों तथा प्रगट पारिस्थितिकीय तथा सामाजिक सत्ता को बेहिचक स्वीकार किया गया है। इसलिए यह पुस्तक भारतीय उप महाद्वीप के समस्त जड़-चेतन, जीव-अजीव के पक्ष में है। नदियों, पहाड़ों, रेगिस्तान तथा समुद्र के साथ रहने वाले जीव जगत के भी पक्ष में है। मानव इनसे निरपेक्ष होकर खुशहाल रहेगा, यह विश्वास मान्य नहीं है।

यहाँ सोद्देश्य मॉडर्न साइंस के लिए साइंस शब्द का ही प्रयोग किया गया है। यदि ऐसा न करें तो पारंपरिक ज्ञान-विज्ञान तथा लोक-विद्या के लिए कौन सा शब्द और वह भी गढ़ कर या कहाँ से लाएँ? वैसे भी विज्ञान शब्द भारतीय परंपरा का पारिभाषिक शब्द है न कि साइंस का तर्जुमा या पर्याय। पारंपरिक शब्दों को उसके अर्थ से भिन्न संदर्भों में प्रयोग करने के ऐसे प्रयास भारतीय लोक विद्या के अस्तित्व तक को नकारने के षडयंत्र हैं ताकि हमें अपनी ही बात के कहने के लिए शब्दों का अकाल पड़ जाए। विज्ञान साइंस के लिए लिखें तो विज्ञान के लिए कौन सा नकली शब्द गढ़ें और क्यों? अतः साइंस के लिए साइंस शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। मानवीय रिश्ते जो प्रकृति विरुद्ध एवं सत्य विरुद्ध हों, राजनीतिक या प्रशासनिक दृष्टि से उनका लाख समर्थन किया जाए, वे न तो सुरक्षित रह सकते हैं, न दीर्घजीवी। हिमालय और समुद्र के बीच जो नैसर्गिक आकर्षण है तथा पानी का आना-जाना है; वह धर्म, जाति, प्रांत ही नहीं देश की सीमा तक को नहीं मानने वाला क्योंकि इसे प्रकृति ने बनाया है, मानव ने नहीं। अतः जैसे जल की यात्रा या उसके विभिन्न रूपों में हिमालय तथा जल के बीच का संबंध संपूर्ण भारतीय प्रायद्वीप के बीच है, भारतीय जल के संदर्भ में समझ तथा आचरण भी वैसा ही व्यापक तथा उदार बनाना जरूरी है अन्यथा वह सनक या भ्रम पर आधारित होगा, जिसे प्रकृति हर साल तोड़ती-बरबाद करती रहेगी, चाहे कोई माने या न माने।

यह पुस्तक न केवल पानी के दर्शन, उसके ज्ञान—विज्ञान से परिचित कराती है अपितु समाज के अनेक सफल प्रयासों की सूचना से आपको भी संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप को सुजलां—सुफलां बनाने तथा अविरल निर्मल जल वाले स्वर्ग को अपनी धरती पर पुनः अवतरित करने, स्थापित करने का संदेश देती है।

इस पुस्तक में व्यक्त समस्त विचार, सूचना एवं प्रस्तुति सब पानीबाबा की हैं। मैंने तो बस उनके बाग से फूल चुनने का काम किया है। हाँ, धरती को स्वर्ग बनाने की आकांक्षा और उसमें विचरण करने में हिस्सेदारी पर मेरा भी दावा है क्योंकि इसे नरक बनाने और उस नरक में जीने के साथ उस नरक को बदलने के सपने और काम में हम उनके साथी हैं।

—रवीन्द्र कुमार पाठक

परिचय—रवीन्द्र कुमार पाठक

डॉ. रवीन्द्र कुमार पाठक पेशे से कालेज में पढ़ाते हैं। साथ ही बिहार के मगध क्षेत्र में जल संरक्षण का काम सेवा भाव से करते हैं। भारत की विभिन्न परंपरागत लोक विद्याओं के समर्थन, प्रशिक्षण तथा उनके पक्ष में आंदोलनों से भी जुड़े रहे हैं। संस्कृत तथा पालि भाषा के छात्र हैं और भारतीय दर्शन, योग, तंत्र, लोकाचार तथा आयुर्वेद जैसी परंपरागत विद्याओं के सामाजिक सरोकार पर समाचार पत्र तथा विभिन्न पत्रिकाओं में लेखन करते रहे हैं।

ब्लाग – bahuranga.blogspot.com

Email: rkp.gaya@gmail.com

निवेदन

आधुनिकता की चाह से उपजी असुरक्षा, निकट भूत और वर्तमान में पनपी मत-मतांतर की धर्माधता और आधुनिकतावादी हिन्दुत्व के उग्रवादी आचरण से विकसित संकीर्णता के कारण पिछले 50-100 वर्षों में तीर्थ परंपराओं और मान्यताओं का भयावह हास हुआ है। जल संबंधी शौच-अशौच के नियम व्यापक रूप से समाप्त हो गये। बड़ी बातों को छोड़ दें, आज से सौ वर्ष या 50 वर्ष पहले कोई व्यक्ति शंका-निवृत्त हुए बिना नदी या जलाशय में प्रवेश नहीं कर सकता था। गांव के जलस्रोतों के आगोर क्षेत्र में शंका निवारण नहीं कर सकता था। आम आदमी को इस आचरण के लिए स्वतः समझ थी जो स्व-अनुशासित नियमों पर आधारित थी। आज अधिकांश तीर्थ स्थल, नगर, नदियां, जलाशय, कुएं, बावड़ी केवल गंदगी, उससे उत्पन्न दुर्गंध और मिथ्याचार के प्रतीक हैं। इस वास्तविकता को कदापि नहीं नकारा जा सकता कि आज मथुरा-वृन्दावन की यमुना और काशी की गंगा के दर्शन मात्र से धिन का भाव उत्पन्न होता है। यह सत्य भी बहुत पुराना नहीं (लेखक स्वयं साक्षी है) कि चीर घाट, विश्राम घाट, दशाश्वमेध घाट शहरी वास्तुकला एवं नैसर्गिक सौंदर्य की साझी धरोहर के अनुपम प्रतीक थे। हरिद्वार कुंभ 1999-2000 की पूर्व बेला पर नीरी (नेशनल एन्वायरमेंट इंजीनियरिंग इन्स्टीट्यूट, नागपुर) ने शोध आधारित घोषणा की थी 'ऋषिकेश में गंगा जल पीने योग्य नहीं और हरिद्वार का गंगा जल स्नान योग्य नहीं है। श्रद्धालु जन निजी जोखिम पर स्नान करें।' जल और जल की पवित्रता दोनो संकट में हैं। आज इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हिंदुस्तान का पानी उतर गया है। पीने के पानी की किल्लत तो बच्चा-बच्चा महसूस कर ही रहा है, आंख का पानी भी नहीं बचा, यह भी किसी से छिपा नहीं है। भौतिक पानी की कमी होने से शायद हमारी पानी की समझ भी कमतर हो गई है।

हमारे समस्त शास्त्र और आख्यान प्रमाण हैं कि अभी एक डेढ़ सदी पहले तक हमारी पानी की समझ अत्यंत विस्तृत थी। मध्य काल में लोक भाषाओं का प्रचलन बढ़ने लगा तो हमारे मनीषियों ने जल के शास्त्रीय विवेचन को सरल लोकोक्तियों में प्रस्तुत कर दिया। रहीम का दोहा है ही ऐसा कि बार-बार दुहराना पड़ता है - रहिमान पानी राखिए, बिन पानी सब

सून। पानी गए न ऊबरे, मोती मानस चून ।। कबीर ने भी हमें याद दिलाया है – तीरथ में भई पानी ।। रहीम की बात सीधी और दो टूक है। अब्दुरहीम खानखाना प्रथम पीढी के हिंदी वासी हैं। उनके पिता बैरम खाँ तूर्क मूल के थे। हुमायूँ, जब दुबारा लौटा तो उसके साथ हिंदुस्तान आए थे। ऐसा कहा जाता है कि रहीम हिंदी, संस्कृत, फारसी, अरबी, तुर्की आदि के विद्वान तो थे ही लेकिन विश्व की अनेक भाषाओं में संवाद कर सकते थे। ऊपर लिखे दोहे में रहीम ने न केवल हिंदू शास्त्र के तत्त्व को उद्भासित किया है बल्कि ऐसा सार्वभौम सत्य कहा है जो शाश्वत विद्या का द्योतक है।

हिंदुस्तान के पानी पर पिछले 150 बरस से लगातार हमला हो रहा है और हम बेखबर हैं। यह अत्यंत अशुभ लक्षण है। सन् 1850 के लगभग दिल्ली में डेढ़ दर्जन छोटी-बड़ी स्थानीय या थोड़ी दूर से बह कर आने वाली बारहमासी नदियां प्रवाहित थीं। आज उन सभी की परिभाषा गंदा नाला है। आज दिल्ली हिमालय के पानी पर जिंदा है। लेकिन कब तक ? शायद हमें खबर नहीं हुई कि हिमालय तेजी से सूख रहा है, तब क्या होगा ? शायद स्वयं को भगीरथ का अवतार कहलाने के लिए लालायित नेता यूरोप के आल्प्स का पानी हिंदुस्तान ले आने की योजना प्रस्तुत कर देंगे और इस प्रक्रिया में आल्प्स भी सूख गया या दिल्ली की जमना की तरह मल मूत्र का पहाड़ बन गया तब ? तब तक तो शायद सब कुछ बहुत आसान हो चुका होगा। तब तक साईंस की इतनी तरक्की हो चुकी होगी कि 'आकाश गंगा' (अंतरिक्ष) से घर तक सीधी पाईप लाईन से जुड़ी होगी और प्लास्टिक के नल से अमृत प्रवाहित हो रहा होगा। साईंस के गुरुर में आदमी शैतानियत की हद लांघने लगा है।

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि देश में पानी का 'गम्भीर' संकट है। इसी जलाभाव के स्थायी हल के लिए भारत सरकार ने पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी और पूर्व राष्ट्रपति ऐ.पी.जे. अब्दुल कलाम की संयुक्त सहमति/युक्ति से एक छप्पन खरब रुपये की लागत से बनने वाली नदी जोड़ो योजना प्रस्तुत हुई। मानव इतिहास की विशालतम योजना के कारण-परिणाम पर छिटपुट संवाद शुरू होने में भी अभी देर है लेकिन योजना पर काम दैविक गति से चलने लगा है। यानी जब तक यह तर्क विकसित होगा कि अंततः योजना चलेगी नहीं और लाभ से बहुत अधिक

नुकसान करेगी तब तक कुछ लाख करोड़ रुपये इस पर व्यय हो चुकेंगे और फिर योजना को पूरा करना ही तर्क—संगत होगा जैसा कि नर्मदा—सरदार सरोवर नदी घाटी योजना या टिहरी आदि के संबंध में हुआ है। जब किसी योजना पर दो—चार हजार रुपए खर्च हो जाते हैं तब निहित स्वार्थ (विज्ञानवादी, ठेकेदार, दलाल, और लाचार श्रमिक वर्ग) का एक व्यापक गठजोड़ संगठित हो जाता है। उस दशा में विवेकपूर्ण जन चेतना का संगठन लगभग असंभव हो जाता है फिर इस तर्क—कुतर्क का, कि अब इतना बड़ा व्यय हो चुका है, अतः अब तो योजना को पूरा करना ही उचित है। हमें तो यह भी अनुमान नहीं कि साईंस निष्ठ तकनीकी में हमारा भरोसा क्या कुछ नहीं करके दिखा सकता। आज हमें यह बात याद ही नहीं है कि इस देश में कुछ समय पूर्व तक गंगा—यमुना जैसी महानदियां अविरल बहा करती थीं।

आज सिर्फ हिंदुस्तान ही नहीं बल्कि दुनिया के प्रत्येक इंसान को यह तथ्य ठीक से समझ लेना होगा कि नवसाम्राज्यवाद की कार्यसूची में हिंदुस्तानी सोने की चिड़िया की गुलामी सर्वोपरि प्राथमिकता है। अकेला हिंदुस्तान दुनिया की भूख का निवारण कर सकता है और शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के लिए भी पर्याप्त सेवाएं उपलब्ध करा सकता है यानी जब तक हिंदुस्तान की प्राकृतिक क्षमता और आध्यात्मिक चेतना शेष हैं, तब तक समूची दुनिया को एकमुश्त गुलाम बनाना संभव नहीं। इसलिए इस बार हमला हिंदुस्तान के मिट्टी और पानी के खिलाफ है। अरबों—खरबों रुपए की लागत वाली विशालतम 'नदी—जोड़ो' योजना बनाई गई है। चाहे जिसने बनाई हो, यह योजना भारत की समस्त नदियों के विनाश की और अंततः भारत के विनाश की योजना है। इस योजना के माध्यम से समस्त नदी प्रणाली का विनाश हो जाएगा जैसा कि गंगा का हुआ है, और जो पानी विशाल बांधों में नियंत्रित होगा उस पर उन देशों या कंपनियों का कब्जा होगा जो उसके निर्माण की लागत जुटाएंगी और भारत के नागरिक और किसान को एक—एक बूंद पानी खरीदना पड़ेगा।

पानी के बारे में भारतीय जीवन दर्शन को न समझ पाने के चलते आज हम भंवर में उलझते जा रहे हैं। विश्व बैंक और आई.एम.एफ. के सुझावों पर भारत का विकास कर रहे नौकरशाहों, साइन्सवादियों और राजनेताओं ने संगठित होकर भारत की नदियों को जोड़ने का संकल्प कर लिया है। इससे

भारत की नदियों का जीवन खतरे में दिखाई पड़ता है

नव साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ाई उन्हीं हथियारों से लड़ी जानी है, जिनका विकास हिंदुस्तान में 1857 से 1947 के बीच हुआ है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस और मोहनदास कर्मचंद गांधी के संयुक्त घोषणा पत्र और रण कौशल में वह अनोखी सामर्थ्य दिखाई पड़ती है, जिसके बलबूते साम्राज्यवादी घोड़े की लगाम पकड़ कर उसका मुख उसके अपने घर की तरफ मोड़ा जा सकता है।

इस संग्राम का प्रथम युद्ध क्षेत्र गंगा जमुना का दोआब है। साईंसवाद ने गंगा जमुना पर गंभीर हमला बोला है। इस हमले का माकूल जवाब देकर ही साईंस साम्राज्यवाद के विरुद्ध मुक्ति संग्राम की शुरुआत की जा सकती है। पहला कदम अध्यात्म चेतना का है।

हिस्टोरियन ए.एल. बैशम ने भारत को मानसून सभ्यता का पर्याय कहा है—किन्तु इस विषय पर कोई विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है। एक प्राथमिक प्रयास तो दिवंगत पर्यावरणविद् अनिल अग्रवाल और उनकी सहयोगी सुनीता नारायण के नेतृत्व में 'Dying wisdom' शीर्षक के अंतर्गत हुआ भी है। मेरी समझ से सेन्टर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट द्वारा प्रकाशित (1997) 'डाईंग विज़डम' के पुनर पाठ—प्रकाशन का आयोजन करने का उचित समय है। सी.एस.ई. सुनीता नारायण स्वयं इस विषय पर विचार कर सकती हैं। इस संदर्भ में मेरी तो यही समझ विकसित हुई है कि भारत का जल कौशल, लोक विद्या की अनोखी धरोहर है वैश्विक विरासत है। जो भी अवशेष/शेषांश अभी उपलब्ध हैं उनका वैज्ञानिक दस्तावेजीकरण हो जाना चाहिए। 'जल धर्म' संकलन में उस समाप्त हो रहे लोक विवेक की सैद्धांतिक—दार्शनिक चर्चा का प्रयास है। पिछले एक बरस में प्रधान मंत्री नरेन्द्र मोदी ने 'स्वच्छ भारत मिशन' और 'निर्मल गंगा' के राष्ट्रीय संकल्प की घोषणा की है। मोदी के भगीरथी प्रयास में सामाजिक संगठनों की यही भूमिका हो सकती है कि वह लोक विद्या विवेक का पुनर—पाठ आयोजित कर लोक प्रशिक्षण के काम में सक्रिय हो जाएं। अतः यह तथ्य गंभीरता से समझना होगा कि भारतीय समाज नकल के आधार पर बहुत कुछ नहीं सीख सकता। सांस्कृतिक एवं भौतिक विकास के संदर्भ में भारतीय समाज को

स्थानीयता' की वरिष्ठता के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ेगा। केवल जल धर्म को मानने के नाते नहीं बल्कि उस सिद्धान्त की दीर्घकालीन स्थापना के चलते हमें जल धर्म, जल कौशल की वरीयता को स्वीकार करना पड़ेगा।

संकल्प स्वच्छ भारत मिशन का हो या निर्मल गंगा का—हर क्षेत्र में समस्या का स्थानीय विश्लेषण अनिवार्य होगा, उसी आधार पर समाधान भी स्थानीय ही होगा। इस तथ्य को यूँ भी समझ सकते हैं कि वर्षा जल का संचयन विश्व भर में एक सामान्य विधि है। लेकिन हर क्षेत्र में तालाब निर्माण और उससे पानी को खेत या गांव तक ले जाने का विधान भारत में तो पूर्णतया स्थानीय ही होता है।

इस संक्षिप्त संकलन में इन प्रश्नों को पूछने का आरम्भिक प्रयास हुआ है। हम जल धर्म और जल कौशल के विषय पर संवाद शुरू कर रहे हैं। अंतिम उत्तर या समाधान का प्रयास कदापि नहीं कर रहे। कुछ संगठनों का गठजोड़ इस योजना का क्रियान्वयन करें तो निश्चित ही जल कौशल के माध्यम से भारत की जन शक्ति को प्रेरित और संगठित किया जा सकता है। जल कौशल के सिद्धान्त और दर्शन को जानने और मानने लगते हैं तो यह तथ्य सहज ही स्पष्ट होने लगता है कि भारतीय संस्कृति का मूल स्वर स्थानीयता के आधार पर विकसित वैविध्य है न कि एकीकृत व्यवस्था। भाषा का स्वर तो समूची दुनिया में स्थानीय होता है किन्तु हमारे देश में भोजन, भूषा, भवन भी मूलतः स्थानीयता आधारित होते हैं। जातीय गुण धर्म के पालन से वैविध्य और सृष्टि बनता है। जल कौशल स्थानीय ही हो सकता है और उसकी बुनियाद पर जो समाज और संस्कृति विकसित होगी वह मूलतः स्थानीय होगी, उसका एकीकृत स्वरूप कभी भी आंचलिक विस्तार से विरुद्ध नहीं निकलेगा।

भारत की मूल संपदा इस देश की नदियां हैं। इन नदियों के बहते रहने की विधिवत व्यवस्था कर भारत फिर सोने की चिड़िया और जगद्गुरु बन सकता है लेकिन इस काम की उम्मीद अब आम जनता की आध्यात्मिक चेतना और शक्ति के संगठन पर ही खड़ी की जा सकेगी।

आज विश्व की पहली प्राथमिकता है कि भारत देश के गांव—गांव में

गंगा पुनर अवतरण यज्ञ और श्री गंगा मन्दिर निर्माण की प्रक्रिया शुरू की जाए ताकि समस्त जन को जल की निर्मलता बनाए रखने के लिए प्रेरित किया जा सके। इस प्रक्रिया से जुड़ने पर प्रत्येक, हिन्दू, हिन्दुस्तानी, हिन्दी नागरिक को अपने सिन्धु जैसा विशाल और गहरे चरित्र का सही अनुमान होगा। हम सिन्धु दर्शन का सही अर्थ तभी जान सकेंगे जब हर गांव में पवित्र, निर्मल जल के पांच—दस समुद्र लहराने लगेंगे और समूचा भारत सच्चे अर्थ में—सजलाम्, सुफलाम्, शस्य—श्यामलाम् बनेगा।

इसी भाव से हमने 2003 की पहली जून से पन्द्रह जून तक हरिद्वार में 'गंगा पुनर—अवतरण यज्ञ' का आयोजन किया। प्रयास था कि इस समस्त क्षेत्र के गांव—गांव, कस्बे—कस्बे, नगर—नगर 'गंगा यज्ञ समिति' गठित हों और गंगा की शुद्धि और शक्ति जागरण के लिए आध्यात्मिक यज्ञ शुरू करें। अपने स्थानीय क्षेत्र की समस्त जल संस्थाओं (तालाब, कुएं, कुंड आदि) का पुनरनिर्माण शुरू करें। गंगा माता की पवित्रता की लड़ाई जीवन तत्त्व की लड़ाई है — अध्यात्म और ऐहिक जीवन की एकात्मकता, अभिन्नता को अक्षुण्ण बनाए रखने की लड़ाई है। इस बाजारीकरण के दौर में आइये हम भी अपने विचार और संकल्पों की गठरी उठा कर कबीर के साथ बाजार में खड़े हो जाएं — 'कबीरा खड़ा बज़ार में, लिए लुकाटी हाथ। जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ।'

विषय सूची

संपादकीय

निवेदन

- 1 जल ईश्वर है
- 2 तीर्थ विज्ञान
- 3 जल दर्शन एवं विज्ञान
- 4 भारत हिन्दुस्तान या दक्षिण एशिया
- 5 हिमालय : भारतीय उप महाद्वीप के जल चक्र का नियामक
- 6 गंगा की पवित्रता और नदियों की मृत्यु
- 7 नदी-जोड़ो योजना उलटी समझ
- 8 हरित क्रांति
- 9 जल कौशल
- 10 निष्कर्ष पुनः गंगावतरण कैसे?
अपनी बात
जीवन-परिचय

1. जल ईश्वर है

हिन्दू मान्यता के अनुसार आदि पितृ यानी जीवन का मूल स्रोत तो सूर्य, सविता हैं किंतु इस धरती पर जीवित और अजीवित तत्त्व का मूल अंतर जल का प्रधानत्व है। जो भी जलयुक्त है, वही जीवित है। स्थूल रूप में यह स्वतः स्पष्ट है कि जीव, जीवाणु और अन्य पदार्थों का फर्क जल की प्रधानता से ही निर्मित होता है। जीवित तत्त्व अथवा जीव का निर्माण उसी क्षण प्रारंभ होता है, जब सूर्य, वायु, पृथ्वी और आकाश ये सभी जल में निजी आहूति करते हैं।

कबीर जनवादी दार्शनिक हैं। उन्होंने दार्शनिक गूढ़ तत्त्वों को भी सहज कवित्त में इसीलिए कह दिया कि आम आदमी अपने दर्शन से अलग-विलग न हो और उसका जीवन-दर्शन उसकी स्मृति में अंकित होगा तो वह आवश्यकता पड़ने पर अंतःकरण की बात को सहज जान भी लेगा।

माया महा ठगिनी मैं जानी,
केशव के कमला बनू बैठी,
शिव के भवन भवानी ।
पण्डा की मूरत बन बैठी,
तीरथ में भई पानी ॥

कबीर की इस बानी से यह सरल बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि सृष्टि में समस्त माया पानी की है, ईश्वर के सभी रूप जल के सदृश हैं और जल की तीर्थ या तारनहार प्रवृत्ति ही ईश्वर रूप में पूजनीय है। ईश्वर जल की तरह अलग-अलग रूपों और रूपकों में हमारे समक्ष प्रत्यक्ष होता रहता है और आदमी ईश्वरीय तत्त्व जल से निर्मित स्वयं ईश्वर का रूप है। भारत में न तो कोई एक मात्र दर्शन शास्त्र है, न हमारी लोक परंपरा किसी एक ही दर्शन के प्रति समग्र निष्ठा रखती है। भारतीय समाज सभी दर्शनों से उपयोगी अंशों को अपनी समझ तथा जरूरत के अनुसार स्वीकृत, व्याख्यायित और आत्मसात करता है और उसके अनुसार जीवन जीने के मापदंड बनाता है।

इसे विविधता पूर्ण तथा व्यापक दृष्टि से देखें तो जल के संबंध में

भारतीय लोक परंपरा के निम्नलिखित मुख्य आधारभूत सिद्धांत मिलते हैं—

1. सृष्टि परम पुरुष परमात्मा के आत्मोसर्ग या निजी बलिदान से निर्मित है। उस परम पुरुष का अनंत सामर्थ्य ही इस जगत के निर्माण की सामग्री है। उस सर्वहितकारी पुरुष से ही यह समस्त जगत उत्पन्न होता है।

2. दृष्टिगोचर जगत की निरंतरता सृष्टि के पंच तत्त्व (महाभूत)—सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु एवं आकाश, जिनका निर्माण विराट पुरुष की निजी आहुति से हुआ, उनकी अनंत पारस्परिक आहुति से निर्धारित एवं संचालित है। यानी ये पंच तत्त्व एक दूसरे में अपनी आहुति से प्रकृति का प्रपंच रचते रहते हैं।

3. इस सृष्टि में मानव जन्मना ऋणी है क्योंकि परम पिता परमेश्वर ने निजी तत्त्व से ही मानव और संपूर्ण सृष्टि, जिसका मानव उपभोग कर रहा है, उसका निर्माण किया है। प्रकृति या परमेश्वर के अतिरिक्त और है ही क्या जो आहुति के लिये बाहर से लेते? प्रकृति या परमेश्वर के ऋण से उऋण होने का संकल्प और कर्तव्य मानव धर्म और सृष्टि की अनंत निरंतरता का आधार है। यह यज्ञ कर्म या उऋण होने का संकल्प और प्रक्रिया उसी आत्मोत्सर्ग का पर्याय है, जो मानव को मानवत्व और सृष्टि के निर्माता प्रकृति या परम पिता परमेश्वर से एकत्व का बोध कराता है। मानव ईश्वर का अंश है क्योंकि परम पिता ने स्वयं अपने में से उसका निर्माण किया है। मानव ईश्वर तत्त्व से निर्मित है इसलिए ईश्वर का सजातीय है। यही 'एकता बोध' या 'सजातीय भाव' मानव के उऋण होने की समस्त प्रक्रिया, जैसे यज्ञोपवीत संस्कार, चतुराश्रम आदि का निर्धारण करता है। इसी वैदिक विद्या से समस्त मानव, सृष्टि और प्रकृति की एकता निर्धारित होती है। इसी 'यज्ञ विधान' की प्रेरणा से भारत के कंगाल भी चिड़ियों—कबूतरों के साथ मिल बांट कर जीवन यापन करते हैं। मृतक को समाज ने जो दिया था उससे उऋण होने के लिये मारवाड़ अंचल में मृत्युभोज (मौसर) की परंपरा इसी वैदिक विधान की कड़ी है।

पूर्वोक्त मूल भूत दृष्टि व्यापक रूप में विकसित होते हुए भारतीय लोक परंपरा में 'घट—घट तीरथ, क्षण—क्षण अवतार' जैसे सिद्धांत का रूप ले

लेती है। यह सिद्धांत हिन्दू सांस्कृतिक बहुलता, व्यक्ति की निजता के संतुलन एवं उसके ईश्वरत्व का विज्ञान है। प्रत्येक व्यक्ति जन्मना ईश्वर का अवतार है, उसी तरह जैसे मिट्टी का कण—कण और जल की बूंद—बूंद ईश्वर के रूप हैं। तीर्थ परंपरा और सांस्कृतिक वैविध्य का सिद्धांत पर्यावरण आधारित जीवन की वैज्ञानिक पद्धति भी है। प्राकृतिक पर्यावरण से लयबद्ध जीवन ही यज्ञ व्यवस्था या वैदिक जीवन प्रणाली का मौलिक आधार है। गौ पूजा वास्तव में जिजमानी / यजमानी (यज्ञमानी) प्रथा के सर्वोत्तम प्रतीक की पूजा है। जितने कुनबे, उतने कुल देवता और उनके अनेक पितृ देवता। जितने गांव, उतने लोक देवता और ऐसा प्रत्येक स्थान जहां पशु, पक्षी, बटोही के वास्ते जल और आश्रय है, वहीं तीर्थ है। सृष्टि में जितने जीव उतने देवी देवताओं के रूप।

पर्यावरण और जलवायु में स्थानीय परिवर्तन या भिन्नता प्राकृतिक अनिवार्यता है। भिन्नता प्रकृति का निजी सुरक्षा कवच है। प्रकृति की इस भिन्नता से लोकधर्मी सामंजस्य का नाम 'वैविध्य' है। जिसका वैदिक / हिन्दू मूर्त रूप 33 कोटि देवी—देवता हैं। ऐसे पर्यावरणवादी विज्ञान को मानने वाले के लिए 33 कोटि देवी—देवता और असंख्य तीर्थ गर्व का विषय हैं, जातीय ग्लानि का नहीं।

मारवाड़ में अकाल सर्वेक्षण के दौरान सोलंकिया तला गांव में एक शाम पूनाराम भगत के साथ जनजीवन से लेकर भगत—भोपा आदि के आचरण तक पर चर्चा हो रही थी। अचानक ही मेरे साथी आचार्य सुधीर चन्द्र ने पूनाराम जी से सवाल कर दिया कि भगवान क्या हैं? सवाल सुन कर पूनाराम जी मौन और निर्विकार हो गये और मैं अवाक् रह गया। मन ही मन अपने को कोसने लगा कि इन पढ़े—लिखे लोगों को मैं गांव क्यों ले आता हूं? लेकिन पूनाराम जी ने चन्द्र क्षणों में ही अपना मौन तोड़ कर स्पष्ट घोषणा कर दी कि मिट्टी (पृथ्वी), पानी और वनस्पति ही ईश्वर के तात्त्विक एवं मूर्त स्वरूप हैं। विश्लेषण की लौकिकता में ऐसी दार्शनिकता का पुट था कि आचार्य सुधीर चन्द्र को पूनाराम जी से दूसरा सवाल ही नहीं करना पड़ा। पूनाराम जी ने कहा "मिट्टी कभी गंदी नहीं होती, कभी अपवित्र नहीं होती, हम उसे प्रतिदिन, प्रतिक्षण दूषित करते हैं किंतु वह हर गंदगी को अपने जैसा, बिल्कुल अपने अनुरूप बनाने में लीन रहती है और बना लेती है फिर शुद्ध होकर हमें

प्राप्त होती रहती है। जिस इंसान में यह गुण आ जाय कि वह हर विष और प्रदूषण को अपने में आत्मसात कर अपने जैसा निर्मल बना ले और स्वयं निर्मल बना रहे वही ईश्वर है।" ठीक यही स्वरूप पानी का है। हम निरंतर जल को दूषित करते रहते हैं लेकिन पानी स्वतः निर्मल होने और अन्य दूषित सामग्री को निर्मल बनाने की प्रक्रिया में नित लीन है। इस नित निर्मल्य प्रवृत्ति का नाम ही ईश्वर है। खेजड़ी के पेड़ में हम पत्थर मारते हैं तो उत्तर में वृक्ष से हमें फल और पत्ते प्राप्त होते हैं। वृक्ष लौट कर पत्थर नहीं मारता, गाली नहीं देता। पेड़ पर हम ईंधन और चारे के लिए कुल्हाड़ी चलाते हैं तो पेड़ क्षुब्ध होकर उगना या प्रस्फुटित होना बंद नहीं कर देता। पूनाराम जी का कहना था कि जो भी जल की तरह गतिशील हो जाता है और स्वतः निर्मलीकरण की प्रकृति प्राप्त कर लेता है, वही भगवान के सदृश हो जाता है। मिट्टी, पानी और वनस्पति की सहज प्रवृत्ति ही ईश्वर का पर्याय है।

कच्छ क्षेत्र के छछला गांव में अकाल सर्वेक्षण के दौरान एक दिन वहां के निवासी कासिम खां ने समझाया— 'तुम शहरी बाबू न कुदरत (कासिम खां ने यह स्पष्ट किया कि कुदरत माने खुदा) की बात समझते हो न किताब की बात जानते हो, और न आंख से देखकर सीख सकते हो। फिर यहां आकर क्यूं हमारा समय बर्बाद करते हो? सरकार क्यूं संस्थाओं को पैसा बर्बाद करने के लिए देती है?' मैंने बीच में टोकने का प्रयास किया तो कासिम खां का गुस्सा और तेज हो गया। वे बोले— 'बाबू बात सुन और समझ, बीच में टोक मत। तुझे मालूम है, कुदरत का हुकुम था कि दूध नहीं बेचना, दूध बेचना पूत बेचने के बराबर गुनाह था। खुदा का कानून इसलिए बना था कि सब कोई अपने घर में गाय पालेंगे, जानवर की सेवा करेंगे, घर के बच्चे, बूढ़े, औरत सभी को दूध और छाछ मिलेगा। घर पर घी बनाकर बेचने से गुजारे में मदद भी हो जायेगी।'

खुदा का कानून किसने तोड़ा? सरकार ने इस कानून को तुड़वाया, शहरी बाबू तुम्हारे वास्ते ही तुड़वाया। यह जो अधर्म बढ़ गया, इसी से अकाल पड़ता है। पुराने वक्त में कच्छ के 'बनी' क्षेत्र में कम बारिश होने पर भी बहुत चारा होता था। कच्छ में पानी की कमी तो होती थी किंतु चारे का कभी अभाव नहीं होता था।' बाबू यह सर्वे का काम बंद कर, इससे गांव में बदअमनी फैलती है, अपनी छोकरियों को यहां से लेकर जा।'

इस प्रकार सब कुछ ईश्वर, उसकी माया और उसके बनाये कानून से संतुलित होती है और उसे तोड़ने पर दंड भी मिलता है। यह केवल भौतिक या शारीरिक रूप तक ही नहीं है बल्कि तन एवं मन दोनों को घेरे हुई है इसलिये तीर्थ भी भूमि तीर्थ और मानस तीर्थ दोनों प्रकार के हैं।

2. तीर्थ विज्ञान

‘तीर्थ’ तीन कारणों से पवित्र माने जाते हैं, जैसे— स्थल की कुछ आश्चर्यजनक प्राकृतिक विशेषताओं के कारण, या किसी जलीय स्थल की अनोखी रमणीयता के कारण, या किसी तपः पूत ऋषि या मुनि के वहां स्नान करने, तप साधना करने आदि के लिए वास के कारण ।

अतः शास्त्रीय मान्यता के अनुसार तीर्थ का सरल अर्थ ऐसा स्थल या जलयुक्त स्थान, नदी, कुंड, प्रपात, जलाशय आदि है, जो अपने विलक्षण स्वरूप के कारण आत्म चिंतन एवं स्वनिर्मलीकरण की भावना को जागृत करे । इसके लिए ऐसे स्थान पर शालिग्राम आदि का होना अनिवार्य नहीं है ।

अनेक वैदिक—पौराणिक विवरणों से यह स्पष्ट है कि तीर्थ जल का पर्याय है । सामान्य अर्थ में जल का किनारा या तीर ही शास्त्रीय तीर्थ और लोक परंपरा का तीरथ है । शास्त्रीय परंपरा के अनुसार ‘तीर्थ’ अत्यंत व्यापक अवधारणा है, जो गुरु और संत महात्माओं की क्षमताओं को भी प्रभावित करती है । संक्षेप में तीर्थ पंचतत्त्व की लयात्मक पारंपरिकता (यज्ञ—व्यवस्था) या प्राकृतिक यज्ञ का सहज सौंदर्य है ।

वैदिक मान्यताओं के अनुसार ‘पंचतत्त्व—यज्ञ’ की कलात्मक, सुंदर, मनोहर अभिव्यक्ति ही तीर्थ है । वैदिक सिद्धांत में तीर्थ ऐसे स्थल के रूप में भी परिभाषित किये गये हैं, जहां पंच तत्त्व सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु एवं आकाश किसी विलक्षणता के साथ प्रस्फुटित हों । यानी तीर्थ पंचतत्त्व की पारस्परिकता (जिजमानी) या प्राकृतिक यज्ञ से उत्पन्न विलक्षण सृष्टि का सुपरिणाम है ।

भक्तिकाल में विकसित लोक परंपराओं में तीर्थ ईश्वर दर्शन यानी परम पुरुष या प्रकृति की कृपा, अनुकम्पा से तादात्म्य और पिता रूप परमेश्वर या मां—स्वरूपा प्रकृति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का सरल और सहज मार्ग है इसीलिए हिन्दुस्तानी गांव में जहां कुआं है या अन्य कोई जल स्रोत है, वहीं मंदिर और शिवालय हैं । जहां घट और घाट, वहीं तीरथ । इसी वैदिक एवं

लोक विज्ञान की परिभाषा महात्मा कबीर दास ने भी की थी – 'तीरथ में भई पानी।'

इस प्रकार तीर्थ विज्ञान के अनुसार लौकिक जीवन या मायावती संसार में जल समस्त जीवन का आधार है। पंचतत्त्व के पारस्परिक यज्ञ/बलिदान/आहुति का मूल माध्यम जल ही है। इस प्राकृतिक यज्ञ प्रक्रिया के लिए जल का पवित्र और निर्मल होना अनिवार्य है। जल की पवित्रता, निर्मलता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए शौच, अशौच, शुद्ध-अशुद्ध की विस्तृत प्रक्रिया निर्धारित की गई थी। पंचतत्त्व यज्ञ में मूल उत्प्रेरक तत्त्व के रूप में जल की अनिवार्य निर्मलता के कारण ही जल को पवित्रता और पुण्य का कारक माना गया। अनिवार्य निर्मलता के कारण ही जल में स्वनिर्मलीकरण की प्रकृति निहित है। यह आम जानकारी की बात है कि पानी बहते-बहते स्वच्छ होता रहता है। ठहरा जल भी वायु के वेग से हिलोरें लेकर निर्मलीकरण का प्रयास करता है। यूँ भी सालाना चक्र में पानी स्वयमेव भाप बनकर, भाप से बादल बनकर और फिर बरस कर स्व-निर्मलीकरण की प्रक्रिया को निरंतर कायम रखता है। इस स्व-निर्माल्य प्रकृति के कारण भी जल को पवित्रता और पुण्य का कारक माना गया। इसलिए जलयुक्त तीर्थ को पाप नाशक, पुण्यकारक और पुण्य हेतु प्रेरणादायी माना गया। तीर्थ में स्नान का यही महत्त्व है कि मनुष्य जल का स्वनिर्मलीकरण गुण ग्रहण करें।

जल स्मृतिकार भी है। जैसे अग्नि की साक्षी दी जाती है, वैसे ही संकल्प करते समय इस भाव के साथ हाथ में जल ले कर संकल्प या प्रतिज्ञा की जाती है कि अवसर आने पर जल मुझे संकल्प या प्रतिज्ञा का स्मरण दिलायेगा। इसका दूसरा अंदरूनी पक्ष यह भी है कि साधना या अनुष्ठान के समय समस्त जल राशि का स्मरण करते ही मनुष्य होश में आ जाता है और साक्षी रूपी जल पूर्व संकल्प को स्मरण कराने वाला स्मृतिकार हो जाता है।

तीर्थ दर्शन के लौकिक सिद्धांत के संदर्भ में यह समझना आवश्यक है कि तीर्थ यात्री या दर्शनार्थी की भावना में समानता होते हुए भी यह न तो ईसाइयत का 'पिलग्रिमेज' है, और न ही इस्लामी अरब का 'हज'। तीर्थ विज्ञान समस्त गोचर जीवन के विलक्षण एवं अनिवार्य आधार, जल के माध्यम

से जीवन और जगत की निरंतरता का मूर्त सिद्धांत है। इसीलिए हिन्दू लोक परंपरा में जहां जल है, वहीं तीर्थ है। गांव के कुएं, जोहड़ से लेकर झील, सरोवर, जल प्रपात, नदी, समुद्र तक पानी का हर स्थान लोक परंपरा और शास्त्रीय धारणा का तीर्थ है। राजस्थान की पुरानी हवेलियों में ठाकुर जी का आला और घड़ौंची (पानी रखने का स्थान) अगल-बगल बनायी जाती थीं, दक्षिण भारत में जल के लिए प्रचलित शब्दों में एक आम शब्द तीर्थ ही है। प्रत्येक धार्मिक कृत्य और संस्कार के लिए उपयुक्त स्थल तीर्थ ही है। संस्कार विवाह का हो या नित्य श्राद्धकर्म का वरुणदेव के साक्षी के रूप में प्रत्यक्ष तीर्थ का स्थापित किया जाना अनिवार्य संस्कार विधि है। घट, कलश या लोटे में स्थापित किया गया जल वरुणदेव के रूप में समस्त तीर्थों का प्रतिनिधित्व करता है।

अधिकांश भारतीय तीर्थ (सनातनी, जैन, बौद्ध, हिन्दू, सूफी आदि) रमणीक पहाड़ पहाड़ियों, नदी-नालों, झील-तालाब या समुद्र के किनारों पर स्थापित किये गये। इस परंपरा में प्राकृतिक संपदा को सुरक्षित और पूर्णतया सार्वजनिक बनाये रखने का विधान था। तीर्थों में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग तो खुल कर किया जा सकता था लेकिन निजीकरण के माध्यम से शोषण या दुरुपयोग नहीं। गंगा-यमुना के तटों पर अस्पृश्यता लागू नहीं हो सकती थी। नदियों के घाट बिना किसी भेद-भाव के सभी के लिए समान रूप से खुले थे। गंगा, यमुना अन्य पवित्र नदियों के तटों पर निजी संपत्ति का विकास 100-125 वर्ष से अधिक पुराना नहीं। तीर्थ स्थलों पर 'आधुनिक हिन्दू' ही निजी संपत्ति का विकास कर सकता है, पारंपरिक हिन्दू तीर्थ स्थलों पर सार्वजनिक घाट और धर्मशाला का निर्माण करता था।

यह सहज स्वाभाविक है कि जल को ईश्वर मानने वाले देश में समस्त नदियां गंगा का प्रतिरूप हैं और महानदी गंगा की तरह आराध्य मातृ-देव रूप में प्रतिष्ठित है। गंगा माता अपनी अनेक विलक्षणताओं के कारण पृथ्वी पर समस्त जल और जलधाराओं का पूंजीभूत रूप है, वही नर्मदा है, वही कावेरी, वही ब्रह्मपुत्र है, वही गोदावरी। भारतीय धर्म संस्कृति में भौतिक जीवन और अध्यात्म में अभेद है, गंगा इसी अभेद का मूर्तिमान रूप है। गंगा नदी की अवधारणा में अध्यात्म और भौतिकता/ऐहिकता शिव-पार्वती की तरह, राम और सीता की तरह, राधा और कृष्ण की तरह अभिन्न हैं। गंगा

एवं समस्त नदियों की भौतिक पवित्रता उनकी तथा समाज की आध्यात्मिक चेतना और पुण्य भावना को बनाए रखने के लिए अनिवार्य है, ठीक उसी तरह जैसे कि गंगा और समस्त जल धाराओं की आध्यात्मिक शक्ति समाज एवं जल की भौतिक निर्मलता के लिए आवश्यक है। भौतिक और अध्यात्म की यह अभिन्नता उस त्रिवेणी सभ्यता (गंगा+यमुना+सरस्वती) की प्रतीक है, जिसकी अनुपालना के फलस्वरूप भारत भूमि को आज से 300 बरस पूर्व तक सोने की चिड़िया कहा जाता था। हमारी विस्मृति ही हमारे दारिद्र्य भाव का कारण और लक्षण है।

भूमितीर्थ और मानस तीर्थ के संयुक्त कर्म में ऐसी सामर्थ्य है, जिससे समुचित, समग्र नवनिर्माण की योजना क्रियान्वित की जा सकती है। तीर्थ मात्र पृथ्वी की यात्रा का ही नहीं अपितु अंतरमन की यात्रा का पर्याय भी है। पौराणिक मान्यता है कि भौम तीर्थों के अतिरिक्त ऐसे सदाचार, शील—आचार भी हैं, जिन्हें आलंकारिक रूप में मानस तीर्थ कहा जाता है, जैसे— सत्य, क्षमा, इन्द्रिय संयम, सभी जीवात्माओं के प्रति बंधुत्व भाव, दान, आत्म निग्रह, संतोष, मृदुवाणी, ज्ञान आदि। पुराणों में यह स्पष्ट चेतावनी है कि जो लोभी, दुष्ट, क्रूर, प्रवंचक, कपटाचारी, विषयासक्त हैं, वे सभी तीर्थों में स्नान कर लेने पर भी अपवित्र रहते हैं, जैसे मगरमच्छ जल में जन्म लेते हैं, वही मर जाते हैं परंतु स्वर्ग नहीं जाते क्योंकि उनके मन पवित्र नहीं होते। यदि मन शुद्ध नहीं है तो उस व्यक्ति के दान, तप, यज्ञ, स्वच्छता, यात्रा एवं विद्या को भी तीर्थ का पद नहीं प्राप्त हो सकता। आज विश्व को मानवीयता की ओर लौटने के लिए जिस सदाशयता और पारस्परिक मंगलकामना की आवश्यकता है, उसके लिए तीर्थ विज्ञान और विश्वास की पुनर्स्मृति और पुनर्निर्माण के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। धरती को संपूर्ण विध्वंस से बचाने के लिए जितना अपरिग्रह की भावना को जागृत करना होगा वह भी तीर्थ विश्वास और जिजमानी की परंपरा के बिना संभव नहीं।

‘तीर्थ में भई पानी’ और उसके विस्तृत सिद्धांत ‘घट—घट तीर्थ, क्षण—क्षण अवतार’ के आधार पर भारतीय समाज की पूरी जीवन शैली विकसित हुई। उसके आधार पर लोक परंपरा के मौखिक शास्त्र रचे गये, जिसमें सूक्ष्म तथा स्थूल सभी प्रकार के विषय संजोए गये। नई—नई समस्याओं के समाधान भी खोजे गए। ये सभी मिल कर तीर्थ विज्ञान हैं। जैसा

कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि यह साईंस या साईंस पर आधारित नहीं है अतः तीर्थ विज्ञान को भारतीय दिलोदिमाग से ही समझा और महसूस किया जा सकता है ।

इन बातों को आगे के अध्यायों में स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा । साथ ही इस समझ में हुई त्रुटि तथा उसे पुनः वर्तमान परिवेश में पुनः प्रतिष्ठित करने के प्रयासों की भी चर्चा होगी ।

3. जल दर्शन एवं विज्ञान

पृथ्वी पर रहने वाले प्राणी मात्र में चार हिस्सा जल और शेष पांचवा हिस्सा अन्य सभी तत्वों का होता है। आधुनिक जीव विज्ञान (Zoology) के अनुसार भी प्राणी मात्र में 78 प्रतिशत पानी होता है। उसमें एक प्रतिशत भी घटे तो जीवन के लिए संकट खड़ा हो जाता है। पानी चैतन्य का भी प्रतीक है। मनुष्य शरीर के जिन अवयवों में जल नहीं होता, जैसे—लोम, केश, नाखून आदि निर्जीव सामग्री हैं, इन्हें काटने से किसी पीड़ा का अनुभव नहीं होता। इस तथ्य के आधार पर सामाजिक संदर्भ में कमजोर, कायर, अनैतिक इंसान के लिए 'बेआबरू', यानी जिसका पानी उतर गया हो, का मुहावरा विकसित हुआ।

हमारे समस्त शास्त्र और आख्यान प्रमाण हैं कि अभी एक डेढ़ सदी पहले तक हमारी पानी की समझ अत्यंत विस्तृत थी। मध्य काल में लोक भाषाओं का प्रचलन बढ़ने लगा तो हमारे मनीषियों ने जल के शास्त्रीय विवेचन को सरल लोकोक्तियों में प्रस्तुत कर दिया। रहीम का दोहा है :

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून ।
पानी गए न ऊबरे, मोती मानस चून ॥

निज परंपरा का यह तथ्य लंबे अर्से से दृष्टि ओझल है, विस्मृत है कि जल की एक बूंद तक का दुरुपयोग हिंसात्मक है और जीव दया के सिद्धान्त का घोर उल्लंघन है। दैनंदिन जीवन में नित्यकर्म से लेकर रात्रि विश्राम तक हम जो कुछ भी करते हैं, उसमें निरन्तर हिंसा का विस्तार करते हैं। शौच—मलमूत्र विसर्जन के लिए पन्द्रह से पच्चीस—पचास लीटर तक पानी उसमें खपा देते हैं। भारतीय परंपरा में जल ईश्वर तत्त्व है। मल विसर्जन का माध्यम नहीं। वैज्ञानिक तथ्य है कि मल का विघटन या ऊर्जा में परिवर्तन—स्वतः प्रक्रिया है जो सूर्य, वायु और मिट्टी के संसर्ग से तीव्र गति से हो जाती है। जल का मिश्रण कर देने पर यह स्व—विघटन एवं स्व—विकीर्णीकरण की प्रक्रिया सुस्त हो जाती है, जिसके दो नुकसान होते हैं। प्रथमतः तो सहज उपलब्ध होने वाली

ऊर्जा नष्ट हो जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि ऊर्जा का मूल सिद्धांत यही है कि मैं क्षय होती हूँ, इसीलिए हूँ। यानी सूर्य क्षय होकर ही ऊर्जा प्रदान करता है। लकड़ी, कोयला आदि जल कर ही ऊर्जा उपलब्ध करवाते हैं। पदार्थ का क्षय होना उसका ऊर्जा रूप में परिवर्तित होना है। द्वितीय, इस क्षय-गति में अवरोध से अनावश्यक एवं अवांछनीय जीव उत्पत्ति की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। ये दोनों प्रक्रियाएं अनन्त व्यापक हिंसा के क्रम की उत्पत्ति का स्रोत हैं। आधुनिकता के अंधे इस तथ्य को जानने-समझने में असमर्थ ही हैं कि यह कृत्रिम हाईजीन/सफाई स्वच्छता अत्यंत घातक तथा प्रदूषण और जीव हत्या का स्रोत है। आधुनिकता में जिस व्यवस्था को हाईजीन कहा जाता है, वह वास्तव में व्यापकतम गंदगी/अवर्णनीय प्रदूषण और घिनौने जलवायु का स्रोत है। सभी प्रकार की बीमारियों की छूट एवं विस्तार का स्रोत आधुनिक हाईजीन में केन्द्रित है।

जीवन के लिए अत्यंत अल्प मात्रा में जल का मात्र सदुपयोग एवं जल प्रवाह से न्यूनतम छेड़छाड़ ही वैकल्पिक जल प्रबंधन की वैज्ञानिक विधि है। आधुनिक साइंस के सिद्धान्त भी जल विज्ञान के इस तात्विक दर्शन को नकार नहीं सकते। भारत देश के समस्त धर्म संप्रदायों का यही सार तत्त्व है। धर्म का विज्ञान वैसा निरर्थक है नहीं, जैसा हम मानने लगे हैं। हमें केवल यह तथ्य भूल गया है कि आर्य देश की मूल धर्म परंपरा केवल करुणा के सिद्धांत का विस्तार है। आधुनिक जीवनशैली में सर्वाधिक जीव हिंसा का स्रोत भी जल के दुरुपयोग एवं कुप्रबंधन में निहित है।

आधुनिकता के चलते जल एवं वायु पर घोर हिंसात्मक प्रहार हो रहा है। नदियों को बांधने के कारण जल के विरुद्ध जो हिंसा होती है, उससे व्यापक स्तर पर जीव हत्या तो होती ही है, जल जीवों का जीवनक्रम पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है। समस्त जल जीव भी वायु-आकाश-जीवों की तरह घुमन्तू प्राणी हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक जल जीवन नियमित स्थानांतरण की प्रक्रिया पर आधारित है। सिंधु, गंगा एवं ब्रह्मपुत्र के स्रोतों से लेकर समुद्र तक जो जल जीव होते हैं, उनमें से अनेक को प्रजनन के लिए हिमालय के अत्यंत ठंडे/बर्फीले क्षेत्रों तक लौटना होता है। आधुनिकता के प्रभाववश यह संपूर्ण प्रक्रिया आज नष्टप्राय है। बड़ी संख्या में नदियों और पुलों आदि के निर्माण से सृजन और प्रजनन की प्रक्रिया बाधित हुई है।

संक्षेप में, जल के विरुद्ध जो हिंसा होती है, उससे जल स्वयंमेव हिंसात्मक प्रवृत्ति अपना लेता है। ऐसे हिंसात्मक जल का हम भोजन/प्यास बुझाने के लिए उपयोग करते हैं तो हिंसात्मक प्रवृत्तियां प्रबल होने लगती हैं। वर्तमान जल व्यवस्था एवं प्रबंधन के चलते समस्त प्राणी जगत हिंसक बन रहा है। आधुनिक विज्ञान में जो सूक्ष्म तत्त्व मीमांसा विकसित हो रही है, वह भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि जल मात्र पदार्थ या संसाधन नहीं है। जीव उत्पत्ति का मूल कारक भी है। इस तथ्य के दो प्रत्यक्ष प्रमाण हैं – पहला तो यह कि हिंसा से आहत जल की प्रवृत्ति भी हिंसात्मक बन जाती है और हिंसक जल का उपयोग करने से मनुष्य की प्रवृत्ति भी हिंसक बनती है। यह सिद्धांत सभी जीवात्माओं एवं उपभोग हेतु निर्मित/उत्पादित अथवा प्रकृति चक्र द्वारा उपलब्ध सामग्री पर भी लागू होता है। अहिंसा के शासन या समस्त सृष्टि में शांति स्थापना की परिकल्पना ही इसलिए की गई है कि यदि ब्रह्माण्ड और अन्तरिक्ष में शांति की स्थापना नहीं होगी तो मेरा मानना है कि अशांत आकाश गंगा से उपलब्ध होने वाला अंतरिक्ष जलम् (ओस) तक अशांत हो जाएगा। वैदिक आर्य परंपरा का शांति पाठ/ऋचा मनुष्य के भीतर अहिंसा की भावना/प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति और उद्घोष है। इसी तरह मेरा मानना है कि मोक्ष मार्ग तभी प्रशस्त होता है जब सर्वत्र अहिंसा की प्रेरणा जागृत होती है।

दूसरा तथ्य अपेक्षाकृत सरल सिद्धांत है। मल और जल का अनावश्यक मिश्रण होता है तो अवांछित जीव उत्पत्ति शुरू हो जाती है। पृथ्वी पर जीवों की जनसंख्या का असीमित विस्तार, वास्तव में जल के साथ दुर्व्यवहार—दुरुपयोग का परिणाम है। सृष्टि विज्ञान के इन तथ्यों को केवल जानना—समझना ही आवश्यक नहीं है, इनका कड़ाई से पालन करना होगा, तभी मानव कल्याण का मोक्ष मार्ग प्रशस्त होगा। जल के दुरुपयोग, प्रदूषण, हिंसा पर ध्यान न देना भी हिंसा का प्रोत्साहन ही है। पुण्य आत्माओं का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह इस संदर्भ में आवश्यक हस्तक्षेप कर जल के विरुद्ध हो रही हिंसा को बंद करवाने का प्रयास करें।

जल को अविरल बहने दो

युगों पूर्व यह सत्य कहा गया था – बहता पानी निर्मला, यानी पानी का परिशोधन – (आक्सीजनीकरण) जल और वायु के गतिशील घर्षण से होता है। इसी सरल अनुभव के आधार पर तीर्थ विद्या का यह विधान विकसित हुआ कि नदियों का वेगवती रूप अक्षुण्ण बनाए रखना अनिवार्य है। महाभारत के शांति पर्व में भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया है— हे राजन! भूमि का जन्म नदियों की कोख से होता है, इनके समकक्ष कल्याणदायी दूसरा नहीं है। नदियों की समुचित रक्षा राजा का धर्म है। इनसे अधिक कल्याणकारी कोई नहीं है।

भारतीय मानसून में सूक्ष्मा-ति-सूक्ष्म स्थानीय पारिस्थितिकी (micro-eco-specificity) समग्र मानसून चक्र की सूत्रबद्ध कड़ी है। इसमें उपलब्ध आद्रता/शुष्कता (moisture regime) के यथोचित सदुपयोग का विधान है। उससे अन्यथा छेड़-छाड़ की अनुमति नहीं। पश्चिमी राजस्थान की कहावत है कि मारवाड़ में बारिश गडकों के भाग की होती है यानी कम वर्षा के क्षेत्र में कृषि का विस्तार करेंगे तो पर्यावरण की अपूरणीय हानि हो सकती है। किसी भी पर्यावरणीय क्षेत्र में अनियमित और अनावश्यक छेड़-छाड़ समस्त मानसून प्रणाली के चक्र को बाधित करती है।

प्रकृति ने कम-ज्यादा, ठंडा-गर्म, गीला-सूखा आदि की जो व्यवस्थाएं कायम की हैं, इन्सान को उन सीमाओं में रह कर ही जीवन प्रणाली आयोजित करनी होगी। प्रकृति से यह मांग नहीं की जा सकती कि वह कन्याकुमारी में भी माऊंट एवरेस्ट की हवा चलाए या गोआ में कश्मीर का मौसम उपलब्ध करवाए। इसी तरह यह मांग भी अवैज्ञानिक है कि दिल्ली की प्यास बुझाने के लिए हिमालय का पानी उपलब्ध करवाया जाए। इसी श्रेणी में मरुधर में इंदिरा गांधी नहर का निर्माण भी पर्यावरण से छेड़-छाड़ करता दिखता है।

अंतरिक्ष में उत्पन्न जीवन तत्त्व सर्वत्र उपलब्ध है, ग्रहण करने के लिए उपयुक्त पात्र की समझ होनी आवश्यक है। उत्तम श्रेणी का गेहूँ तो ओस की

सिंचाई पर ही निर्भर है। इसी कृषि शास्त्र का नाम हिंदू धर्म है। नदियां हिंदू धर्म की अंतरधारण हैं। अरण्य—आधारित ऋषिकृषि प्राचीन धार्मिक कर्मकांड है।

पानी की समस्या केवल जल संरक्षण की नहीं है, यह हिंदुस्तान के ड्रेनेज(जल निस्तारण) के समुचित उद्धार का भी विषय है। ड्रेनेज का सम्बंध सिर्फ नदियों के प्रवाह से नहीं है बल्कि भूजल के सही/उचित स्तर से भी है। भारत में भूजल प्रबंधन के लिए देश भर में लगभग 25 लाख तालाब, बावडियां, झील कुण्ड आदि की व्यवस्था थी। आज यह समस्त व्यवस्था नष्ट—भ्रष्ट है। अधिकांश तालाबों की जमीन पर आम जनता का कब्जा है। उनके घर हैं या कोई सड़क जैसा लोक उपक्रम निर्मित हो गया है। इनमें से कुछ कब्जे विशिष्ट जन के भी हैं। किसी को भी सहज भाव से बेघर करना आसान नहीं है।

आधुनिक साइन्स की आंतरिक नैतिकता पर चिंतन की शुरुआत अभी हुई नहीं है। क्या सचमुच हमें यह नहीं मालूम कि समूचे हिंदुस्तान में समान आर्द्रता (**uniform moisture regime**) की इच्छा का स्रोत कौन सी ज्ञान मीमांसा से उपजता है? ऐसी वैचारिक सादगी आधुनिक साइंस में ही संभव है।

प्रकृति में विविधता और वैविध्य का विधान या नियम क्यों बना? इस सूत्र पर आधुनिक विमर्श अत्यंत अल्प और अपर्याप्त है। इस नियमावली से परिचय सिर्फ हिंदू कर्म कांड के माध्यम से ही पाया जा सकता है। **Diversity** विविधता और **Bio-diversity** जैव विविधता पर चर्चा तो दस—बीस बरस से जरूर होने लगी है लेकिन आधुनिक साइंस परंपरागत वैविध्य विज्ञान की पर्याप्त समझ से सदियों दूर है। दरअसल सरल बात ही कठिन पहेली होती है।

4. भारत, हिन्दुस्तान या दक्षिण एशिया

भारत वर्ष

जम्बू द्वीप स्थित हिंदुस्तान का एक नाम भारत वर्ष है। भारत वर्ष एक समुचित अर्थपूर्ण मुहावरा है। भारत का अर्थ है— भरत (यानी शकुंतला और दुष्यन्त के पुत्र) से संबंधित, 'वर्ष' बहु अर्थीय शब्द है। वर्ष वर्षा को भी कहते हैं और धरती के भू-भाग को भी कहते हैं। वर्ष उस कालावधि को भी कहते हैं, जिसमें पृथ्वी सूर्य की निर्धारित परिक्रमा को पूरा करती है। भारत वर्ष के मुहावरे में वर्ष के ये तीनों अर्थ समाहित हैं। सरल भाषा में कहें तो भारत वर्ष उस देश का नाम है, जहां स्थान, समय और समृद्धि तीनों की पहचान वर्षा से होती है। राजस्थान की देशी पदावली में काल—अकाल समय के पर्याय हैं लेकिन उनका अर्थ बुरे समय से है। 'काल' उस समय को कहते हैं, जिसमें अन्न का अभाव हो जाय, 'दुकाल' उस समय को कहते हैं, जब अन्न और जल दोनों का अभाव हो जाय और 'त्रिकाल' उस समय को कहते हैं, जब अन्न, जल और तृण (घास) तीनों का अभाव हो जाय।

जुलाई अगस्त 2002 का प्रसंग है। हम लोग राजस्थान में हैं। दुकाल की चपेट में हम आ चुके हैं। अब ईश्वर से यही प्रार्थना कर सकते हैं कि 'मौसम विज्ञान विभाग' का आकलन (भविष्यवाणी) अंततः सही हो जाय और हम कम से कम त्रिकाल की मार से बच जाएं। अच्छा समय और अकाल का विश्लेषण अत्यंत व्यापक विषय है। यह निर्णय आसान नहीं कि बात का सिलसिला कहां से शुरू किया जाए। आजकल साइंस के प्रताप की चर्चा जोरों पर है अतः सूखे की चर्चा हम साइन्स से ही शुरू करते हैं।

यह कैसी अनोखी 'मौसम साइन्स' है जो हमें पिछले तीन महीनों से निरन्तर आश्वस्त कर रही है कि मानसून बंगाल की खाड़ी और अरब सागर से नियत समय पर चल चुका है और बस अब उत्तर भारत तक पहुंचने वाला है और मानसून है कि तटवर्ती क्षेत्रों में कहर ढा कर वापस समुद्र की तरफ लौट जाता है और सारी विलायती 'मौसमी साइन्स' मुंह ताकती रह जाती है। 'मौसम विशेषज्ञ' फिर दो, चार, दस दिन की तारीख बढ़ा देता है। बंगाल की

खाड़ी से अरब सागर तक संदेश चला जाता है कि हिन्दुस्तान के मौसम 'साईंटिस्टों' ने मानसून को एक बार पुनः समय से पहुंचने की अंतिम चेतावनी दी है लेकिन इस बार मानसून है कि आगे बढ़ता ही नहीं और मौसम 'साईंटिस्ट' हैं कि 'अंतिम चेतावनी की भविष्यवाणी से पीछे नहीं हटते।

मध्य जुलाई 2002 में मुझे अचानक पश्चिमी राजस्थान, मारवाड़ जाना पड़ा। वह क्षेत्र तो अकाल का घर ही है। शायद इसी वजह से वहां सुगन देखने की परम्परा साल भर चलती रहती है। फागुन में सुगन देखने की परम्परा सालों से चल रही है। फागुन में सुगन लिया गया, भगत-भोपो (स्थानीय ग्रामीण भविष्य दृष्टा+तंत्र+मंत्र से इलाज आदि करने वाले) अनुभवी वरिष्ठ नागरिकों का आकलन 'मौसम साइंटिस्टों' से मिलता-जुलता था। खेजड़ी (शमी वृक्ष) अपने ठीक समय से पल्लवित, पुष्पित और फलित हुई थी, यही हाल कैर की झाड़ी का था (कैर को पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्र में टैट, टेंटी कहते हैं। इसके कड़वे फलों को शोधित कर अचार डाला जाता है।) कैर का फल और सांगरी (शमी फल) मारवाड़ क्षेत्र में मई के अन्त तक तो तोड़ कर सुखा लिये जाते हैं। सभी लोग प्रसन्न थे कि इस बार जमाना होगा (जमाना माने अच्छी बरसात या अच्छा समय।) लेकिन तभी जून की शुरुआत में ही ठंडी प्रातःकालीन पछवा चलने लगी। मारवाड़ के देशज भविष्यवक्ताओं का माथा ठनक गया। उन्होंने पुनः सुगन लेना शुरू किया। किस तिथि को कैसा चांद उगता है, कैसा छिपता है, कौन-सा नक्षत्र कहां दिखाई दे रहा है, कब उदय हो रहा है, कब अस्त हो रहा है। धरती और अनन्त आकाश का ऐसा अनगिनत डेटा संकलित किया जाने लगा। तभी कैर की झाड़ी पुनः पल्लवित-पुष्पित हो गयी और जुलाई मध्य तक फलित हो गयी। इस लक्षण के स्पष्ट होते ही देशज दृष्टाओं ने अपनी पहली 'भविष्यवाणी' गलत घोषित कर दी और समस्त मारवाड़ को सूचित कर दिया कि अब 'जमाना' (अच्छा समय) सम्भव नहीं है और अकाल, दुकाल संभवतः त्रिकाल से जूझने की तैयारी में जुट जाएं। मारवाड़ के भोपे जिस तत्त्व-बोध के आधार पर मौसम भविष्य का निर्णय करते हैं उसमें 'भड्डरी' दम्पति नामक आदि मौसम वैज्ञानिक के अनगिनत सूत्रों (दोहों) का उपयोग करते हैं। उदाहरणार्थ—

तीतर पंखी बादरी, विधवा काजल रेख।
या बरसै, वा दूजा करे, ई मा मीन ना मेख।।

बंगाल से गुजरात तक उत्तर भारत के अनेक अंचलों में भड्डरी दम्पति या घाघ की अवधारणा व्याप्त है। जिन लोगों ने 'भड्डरी विज्ञान' का विस्तृत अध्ययन किया है उनका कहना है कि 'भड्डरी शास्त्र में दो धाराएं समानान्तर चलती हैं। एक धारा सार्वभौमिक सूत्रों की है और दूसरी धारा नितान्त स्थानीय सूत्रों की हैं। ये परस्पर पूरक हैं, विरोधी नहीं। मौसम का आकलन और भविष्यवाणी करने के लिए प्रेरक प्रधानता (हेजमोनी) स्थानीयता या स्थानीय सूत्रों की है, ठीक उसी तरह जैसे कि इस देश में धार्मिक कर्मकांड में वरीयता/प्राथमिकता कुल देवी और स्थानीय देवताओं तथा स्थानीय लोकाचार की है। मानसून की प्रवृत्ति प्रकृति के नियमों में आबद्ध है। प्रकृति में विविधता के कारण स्थानीयता का सिद्धान्त प्रकृति विज्ञान का मौलिक सिद्धान्त है। विलायती मौसम 'विज्ञान' का अविष्कार 200 बरस से ज्यादा पुराना नहीं। भड्डरी की अवधारणा अनैतिहासिक है। शायद उतनी ही पुरानी है जितनी कि भारत देश की सृष्टि/रचना। 'मौसम साइन्स' की अवधारणाएं एक विलायत नामक टापू की प्रकृति और प्रवृत्ति में आबद्ध है। भड्डरी के न्यूनतम 500 अवतार इस देश में प्रचलित हैं।

संगठित प्रयास करने पर पिछले सौ डेढ़ सौ बरसों के अनुभव जनित आंकड़ों का अध्ययन कर और जन-मानस में व्याप्त लोक विद्या के भंडार की समझ बना कर यह तथ्य जांचा जा सकता है कि हमारा पारम्परिक जल विज्ञान और कृषि कला कितनी विशिष्ट और वैज्ञानिक थी। जैसलमेर और ऐसे पूर्ण मरुस्थल के किसानों से लेकर मालाबार-त्रावणकोर-कोचीन तक के मछुआरों की आजीविका आज भी लोकविद्या पर आधारित है। इस देशज विवेक और व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करने के आयोजन ने आजादी के बाद से निरंतर गति पकड़ी है।

देश में इतना व्यापक गरुमार अकाल पड़ जाय, तब विवरण और विश्लेषण को साईस या मौसम साईस की टीका तक सीमित नहीं रखा जा सकता। अकाल के संदर्भ में पिछली दो सदियों से महत्त्वपूर्ण मुद्दा अन्न की उत्पादकता और उसके अभाव का है। इस मुद्दे पर बड़ी सतर्कता से और अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से सोचना शुरू करें कि सूखा-अकाल आदि कोई असाधारण विपदा है या सृष्टि के चक्र का साधारण नियम है? यदि हम विकासवादियों और इतिहासवादियों द्वारा निर्धारित अवधारणाओं को ही

एकमात्र सत्य मान लें तो भी भारत में गेहूँ, चावल की खेती दस हजार बरस से पुरानी है और काल, अकाल, दुष्काल, दुर्भिक्ष आदि भी इतने पुराने जरूर होंगे। हिन्द महासागर, बंगाल की खाड़ी और अरब सागर से उठ-चल कर जो मानसून पुण्य भूमि हिन्दुस्तान पर वर्षा आयोजित करता है, इसकी व्यवस्था भी पच्चीस-पचास लाख बरस पुरानी तो जरूर होगी। तब यह जानना पड़ेगा कि हिन्द महासागर से उठने वाली दक्षिण-पश्चिमी बरसाती हवाओं की अनिश्चितता एक नियमित स्वभाव है या कोई नवीन विकास। यदि विकास है तो इसमें कितना प्राकृतिक और कितना मानव निर्मित है। इतनी बात तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करनी पड़ती है कि दक्षिण एशियाई मानसून के चरित्र में अनिश्चितता एक स्थाई अंग है। पश्चिमी राजस्थान की सदियों पुरानी कहावत है—

सात काल, सत्ताईस जमाना, तिरसठ कारा कूचा, बाकी तीन घीषाण।’

यानी सौ बरस में 27 बरस ठीक-ठीक बरसात होती है, जमाना, अर्थात् ठीक समय होता है। सात महाकाल होते हैं, 63 बरस ऐसे होते हैं, जिनमें घास-फूस, मामूली अन्न और जल हो जाता है लेकिन एक सदी में तीन बरस ऐसे होते हैं, जब महाकाल का तांडव होता है, जिसमें सबकुछ नष्ट हो जाता है।

पारम्परिक हिन्दुस्तानी भूगोल में तीन तरह के बरसाती क्षेत्रों की व्यवस्था है—

सम वृष्टि क्षेत्र, जैसे— कर्नाटक में कुर्ग, मंगलोर दक्षिण कन्नड आदि का इलाका और महाराष्ट्र में कोलाबा-कोंकण।

अतिवृष्टि क्षेत्र, जैसे— असम का चैरापूंजी

अनावृष्टि क्षेत्र, जैसे— मारवाड़, विदर्भ, तेलंगाना के कुछ हिस्से, कच्छ प्रदेश आदि।

हिन्दुस्तानी विचार प्रणाली के अनुसार भी तीन—चार सदियों तक की लोक स्मृति को प्रमाणिक इतिहास माना जाता है। उससे पहले की अवधि में सिर्फ गाथा और आख्यान बचते हैं। इतिहास में अधिक दूर जाने की जरूरत नहीं है। यदि हम सत्रहवीं और अट्ठारवीं शताब्दी की तुलना 'आधुनिकता' की दो सदियों—उन्नीसवीं एवं बीसवीं से कर लें तो इस संदर्भ के अनेक तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जायेंगे। गौर से समझने का प्रयास करें तो हिन्दुस्तानी परम्परा में किसी भी तथ्य को जांचने—परखने के लिए इतिहास के हवाले की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। जैसे आज भी प्रमाणित करने की जरूरत नहीं है कि हमारे देश में कृषक जातियां कुल आबादी की 20 प्रतिशत से अधिक नहीं हैं। सत्रहवीं—अट्ठारहवीं शताब्दी से संबंधित हजारों तथ्य और 'प्रत्यक्ष साक्षियां' यह घोषणा करती दिखायी पड़ती हैं कि मुगलकालीन भारत कृषि प्रधान नहीं, कौशल—प्रधान देश था। यह दुनिया का केंद्रीय कारखाना था। यह सिर्फ लोहा और कपड़ा ही नहीं बल्कि दुनिया भर में नौकायान और उसकी शिल्प विद्या भी निर्यात करता था। उस हिन्दुस्तान का परिचय, जो 19वीं—20वीं सदी में भी मधुबनी से ढाका तक पांच हजार किस्म का सूती कपड़ा बनाता था, अचानक 19वीं सदी के अंत में कृषि प्रधान देश में कैसे बदल गया? यह शिल्पी वैविध्य आज भी पूरी तरह से नष्ट नहीं हो सका है। सृष्टि की रचना से लेकर 19वीं सदी के मध्य तक कहीं कोई सबूत नहीं मिलता कि भारत भूमि पर कृषि प्रधान समाज बसता था। वेद व्यास की महाभारत या कहीं किसी अन्य साहित्य वांग्मय या लोकोक्ति में कहीं कोई ऐसा तथ्य नहीं जो यह प्रमाणित कर दे कि हमारे देश का मुख्य धंधा कृषि था। अहीर, जाट, गुर्जर, रांगड़ आदि जिन्हें हमने किसान जाति मान लिया है, वे भी मध्य काल में तो गोपालक जातियां ही थीं। डेल्टा भूमि को छोड़कर अन्य कहीं भी किसानी मुख्य धंधा नहीं था। समस्त भारत के तटीय प्रदेश में भी कपड़ा उद्योग कृषि उद्योग से कई गुना विस्तृत था, क्योंकि उत्तम कोटि का सूत और सिल्क तो तटीय आर्द्र क्षेत्र में ही काता—बुना जा सकता है।

भारत, हिन्दुस्तान या दक्षिण एशिया

यह प्रत्यक्षतः प्रमाणित है कि आदिकाल से दक्षिण एशिया विश्वभर में पायी जाने वाली मानव की समस्त नृवंशीय जातियों का निजी घर है। यदि थोड़ी देर के लिए उस 'इतिहास दर्शन' को, जो हमें पिछले 200 वर्षों में

गुलामी के दौरान पढ़ाया गया है, भूल सकें तो इस तथ्य का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं कि नीग्रो, आस्ट्रेलियायी, मंगोल, नोरडिक यह सभी भारत देश के समान रूप से मूल निवासी हैं। चंद तुर्की, इरानी, अफगान और मध्य एशियायी मुसलमान और पारसी (अन्य कोई मतावलंबी इसमें शामिल नहीं) को छोड़ कर एक भी जाति समूह या समुदाय ऐसा नहीं, जिसकी विदेशी मूल की कोई धुंधली सी 'जाति स्मृति' भी हो। विस्तृत लोक साहित्य, भाट-चारणों की आदि परंपरा, और उपनिषद-रामायण से लेकर महाभारत, कालीदास तक श्रेष्ठ कोटि के संपूर्ण वांग्मय में कहीं इक्का-दुक्का संदर्भ भी उपलब्ध नहीं, जिससे यह प्रमाणित हो सके कि भारत के नोरडिक यूरोप से आये थे और नीग्रो अफ्रीका से।

'आधुनिकतावादी' विश्व दृष्टिकोण और 'इतिहासवादी' दर्शन के प्रभाववश यह बात सिर से भुलाई जा रही है कि भारत आदिकाल से कोल, किरात, किन्नर, भील, बानर, केवट, सुर-असुर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, मंगोल, बलूच, अफगान और न जाने कितनी असंख्य जातियों, प्रजातियों, उपजातियों का देश है। इस अनूठी भारतीय विलक्षणता के कारण ऐसी कोई सूरत नहीं, जिसके रेखांकन में हिन्दू-भारतीय या दक्षिण एशियायी की अनेक स्तरीय बहुलता और वैविध्य को किसी एक पंथ या संप्रदाय की परिभाषा के तहत संगठित करके 'हिन्दू राष्ट्र' जैसी किसी कल्पना को साकार कर लिया जाय, जैसा कि यूरोप में हिटलर ने और हिन्दुस्तान में जिन्नाह ने करके भी दिखाया है। फिर भी जब 'हिटलर' और 'जिन्नाह' की धारा चलती है तो दो जर्मनी, दो हिन्दुस्तान, दो पाकिस्तान बनते हैं, जुड़ते नहीं।

इसके विपरीत समस्त हिन्दुस्तानी, भारतीय या दक्षिण एशियायी जन उस अकेली स्थली के बाशिंदे हैं, जहां सदा सर्वदा से इंसान की समस्त नृवंशीय जातियां पलीं, पनपीं और विभिन्न जातीय स्वरूपों में मिश्रित होकर विकसित हुईं। हिन्दुस्तान को छोड़ कर धरती का एक भी कोना या ठिकाना ऐसा नहीं जहां दो से अधिक मानव प्रजातियां वहां की मूल निवासी होने का दावा कर सकें।

भारतवर्ष 19 महानदी घाटियों का देश है। हिमालय से कन्याकुमारी तक ये महानदियां हजारों सहायक नदी-नालों का जल

लेकर समुद्र तक जाती हैं। इन नदी घाटियों में सैकड़ों—हजारों सभ्यताएं, संस्कृतियां जन्मी, पलीं और विलीन होती रही हैं। करोड़ों वर्ष की इस समुचित प्रक्रिया का नाम हिन्दुस्तान है, न कि सिर्फ उस धारा का जो कि 200 वर्ष की गुलामी के दौरान हमने ओढ़ ली।

इक्कीसवीं सदी में हिन्दुस्तानी को अपने दिल और दिमाग का दायरा न्यूनतम दक्षिण—एशिया की सरहदों तक विस्तृत करना होगा। वास्तव में हमारा सांस्कृतिक एवं आर्थिक प्रभाव उत्तर में मध्य एशिया यानी बाबर के पैतृक घर तक, पश्चिम में ईसा के जन्म स्थान तक और दक्षिण पूर्व में मलेशिया तक विस्तृत है। आर्थिक—सांस्कृतिक मानस के ऐसे विस्तार से ही हम अपनी गृहनीति, सुरक्षानीति और विज्ञान विकासनीति निर्धारण की क्षमता हासिल कर सकेंगे।

दक्षिण एशिया के भूगोल की संरचना ही कुछ ऐसी है कि भारत के लिए अकेले समृद्ध और संपन्न हो जाना संभव नहीं। अंतर्राष्ट्रीय समृद्धि की जिस दौड़ में हिन्दुस्तान हिस्सा लेना चाहता है, वह तभी संभव होगा जब समस्त दक्षिण एशिया में स्थायी अमन कायम हो। हिमालय की चोटियों और विशाल पर्वत श्रृंखला के दक्षिणी ढाल ने समस्त दक्षिण एशिया के भूगोल और पारिस्थितिकी को ऐसी एकता के सूत्र में बांधा है कि उसे नकार कर नेपाल, हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, बांग्ला देश आदि सर्वांगीण प्रगति के रास्ते चल ही नहीं सकते। दक्षिण एशिया की समृद्धि का एकमात्र आधार इस क्षेत्र की 19 महानदी घाटियों में उपलब्ध जल और मिट्टी को संजोने, संवारने से ही संभव हो सकता है। समूचे क्षेत्र में यदि प्यास और भुखमरी से लड़ना है तो क्षेत्रीय सहकार के अलावा कोई मार्ग नहीं।

भारतीय मानस का भूगोल

हिमालय का स्वरूप केवल भौतिक नहीं है। वह देव भूमि है, स्वर्ग है। तिब्बत को संस्कृत में त्रिविष्टप कहा जाता है। हिमालय में रहने वाली अनेक जातियों को देव योनि तक कहा गया है। कहने का मतलब यह कि भारत में भौगोलिक चेतना और जलवायु चेतना अनादि काल से सांस्कृतिक चेतना का मूल अंग थी। कैलाश—मानसरोवर शिव—पार्वती का निवास स्थान है।

रामायण, महाभारत, कालिदास और हर्षचरित तक में भारत के भूगोल, संस्कृति तथा एकता के प्रमाण उपलब्ध हैं।

हिमालय को ठीक से समझने के लिये भारत के अन्य क्षेत्रों के बारे में भी भारतीय मानस की समझ को सावधानी से समझना होगा तभी हिमालय की समझ बनेगी और हिमालय के साथ अन्य क्षेत्रों के रिश्तों की समझ से देश के सामाजिक भूगोल की समझ हो सकेगी।

एशिया का ज्यादातर पानी कहां से आता है, इसका प्रत्यक्ष जवाब ज्यादा मुश्किल नहीं है। एशिया का मूल जल विभाजक तथा दस महानदियों का स्रोत तिब्बत का पठार है। तिब्बत का पानी ग्यारह देशों में बहता है और कहा जाता है कि यह एशिया की पिचासी प्रतिशत जनता को ताजा पानी उपलब्ध कराता है, जो दुनिया की कुल आबादी का पचास प्रतिशत है। विश्व की दस महानदियों में से तीन— ब्रह्मपुत्र (यारलंग सांगपो), येंगजी, मिकांग, सांगपो के जल शीर्ष तिब्बत में हैं। तिब्बत से निकलने वाली अन्य महानदियां हैं— हुआंग हो (पीली नदी), सलमीन, अरुण, कारनाली, सतलुज और सिंधु। इन नदियों का लगभग नब्बे प्रतिशत पानी नीचे की ओर बहता हुआ चीन, भारत, नेपाल, पाकिस्तान, थाईलैंड, म्यांमार, लाओस, कंबोडिया और वियतनाम में जाता है।

दक्षिण एशिया में हमारी चिंता मुख्य रूप से गंगा, ब्रह्मपुत्र, अरुण, कारनाली, सतलुज और सिंधु के लिये है जो अपने अनुप्रवाह में रहने वाले लोगों को जीवन देती हैं।

हिमनदों की मुख्य विशेषता यह है कि ये मानसून पर निर्भर नदियों को अपने सतत प्रवाही जल से भर कर उन्हें सदानीरा बना देते हैं अन्यथा वे नदियां केवल कुछ महीनों तक ही बहने वाली हो कर रह जाएं। इस प्रकार ये नदियां दक्षिण एशिया को सुदृढ़ बनाने का काम करती हैं।

अंग्रेजी का मानसून या हिंदी का मौसम अरबी—फारसी के 'मौसिम' शब्द से बना है। यह वैसी समुद्री हवा के चलने को बताता है, जब अरब सौदागर अपने देश लौटने की खुशी या मौज में आ जाते थे। इस प्रकार यह शब्द

भूमध्य रेखा के आसपास से उठ कर हिमालय की ओर बहने वाली हवाओं के लिये एक विशेष संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। इस हवा के साथ भारी मात्रा में बादलों का आना मानसून शब्द का पूरा अर्थ बनाता है। इस अर्थ के अतिरिक्त किसी भी अन्य क्षेत्र की वायुमंडलीय गतिविधि के लिये मानसून शब्द का जो प्रयोग हो रहा है, वह जानबूझ कर भ्रांति फैलाने वाला काम है।

मानसून बेशक भारतीय उपमहाद्वीप पर सर्वाधिक प्रभावी रहता है लेकिन भूमध्यरेखा से उठने वाली तथा हिमालय के द्वारा अपनी ओर खींची जानेवाली आर्द्र हवाएं पृथ्वी की अपनी गति तथा भौगोलिक अवरोध के कारण विभक्त भी हो जाती हैं और भारत के पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों तरफ मुड़ कर (एक) दक्षिण एशिया में बरसात लाती हैं और (दो) चीन की तरफ जाती हैं। (तीन) अफगानिस्तान होते हुए ठेठ पश्चिम एशिया की ओर बढ़ती हैं। पश्चिम एशिया की ओर जाने वाली हवाएं जाड़े में फिर वापस आ कर तराई की नमी को उठा कर मैदानी क्षेत्र में बारिश करती हैं और मध्य हिमालय में बर्फबारी। पश्चिम से पूरब की ओर जाने वाली ये हवा सिंधु, झेलम, चिनाब, सतलुज, जमना—गंगा, ब्रह्मपुत्र के मैदान तथा तराई के क्षेत्र से आर्द्रता ग्रहण करती हैं। म्यांमार में अराकान से टकरा कर बंगाल की खाड़ी में प्रवेश करती है, जो उड़िया तट से शुरू होकर समूचे आन्ध्र तट पर चक्रवात का पर्यावरण बनता है और आगे तमिलनाडु के तटीय क्षेत्रों में व्यापक बरसात होती है।

तराई एवं मैदानी क्षेत्र की आर्द्रता कम होने के कारण अब जाड़े की बरसात तथा मध्य हिमालय की बर्फबारी दोनों कम होने लगी है। इतना ही नहीं साल 2011 के दिसंबर में तो जाड़े की सर्द हवा केरल तक चली गई। यह सब स्थानीय अंचलों के पर्यावरण में भारी बदलाव के कारण हुआ, जिसमें सतह पर जलाशयों की दुर्गति तथा बनस्पतियों का कम होना मुख्य कारण है।

5. हिमालय : भारतीय उप महाद्वीप के जल चक्र का नियामक

हिमालय का संबन्ध केवल भारत से ही नहीं है। इससे निकलने और बहने वाली नदियां केवल भारतीय भूभाग में ही नहीं बहतीं बल्कि एशिया महाद्वीप के कई देशों में बहती हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप की अति विशिष्ट पारिस्थितिकी की कुंजी हिमालय का भूगोल है लेकिन पिछले दो सौ बरसों में हिमालय के बारे में हमारे अज्ञान का निरंतर विस्तार हुआ है। हिमालय जितना पराया फिरंगियों के लिए था, आज हमारे लिए उससे भी अधिक पराया हो गया है। जितना और जैसा सर्वनाश फिरंगियों ने दो सौ बरसों में नहीं किया, उससे कई गुना भयावह बिगाड़ हमने 60-70 बरसों में किया है। यहां अविरल, सलिल नदी-नाले, प्राकृतिक ऊर्जा, विविध आर्द्रता और अतुल जैव संपदा के स्रोत थे और हैं। चालीस-पचास बरस पहले मध्य हिमालय में लगातार दस-पन्द्रह दिन बर्फबारी होती थी, बीस-पच्चीस या उससे भी अधिक दिन शिमला, धर्मशाला, डलहौजी, मसूरी, नैनीताल, अल्मोड़ा, कौसानी, के पर्वत बर्फ से ढके रहते थे। अब इस मध्य हिमालयी श्रृंखला में भी कभी-कभार ही बर्फ गिरती है, शायद वह भी कुल दो-चार दिन। हमारे नेतृत्व से लेकर विद्वत जनों तक किसी को अनुमान ही नहीं है कि मध्य हिमालय में बर्फबारी क्यों बंद या इतनी कम क्यों हो गई और भौतिक संसाधनों की उपलब्धि में क्या हानि-लाभ हुआ ?

हिमालय संबंधी कुछ मूल सूत्रों को ध्यान में रखें तो विषय को समझने में सुविधा होगी, जैसे—

1— भारत उपमहाद्वीप हिमालय का उपहार है। अगर हिमालय टुंड्रा-साइबेरिया से चलने वाली हवाओं को अवरुद्ध न करे तो यह भूखंड भी साइबेरिया का दक्षिणी विस्तार ही हो।

2— इस उप महाद्वीप की जल प्रणाली और मानसून स्वयं में एक

सुसंगठित सशक्त प्राकृतिक प्रबंध है। तिब्बत के हिमनद और हिमालय के शिखर, बर्फ का अस्तित्व बनाए रखने के लिए निज ताप निर्मुक्त करते हैं और जो सूर्य की प्रतिबिंबित चमक और ताप होता है, उससे हिमालय शिखर क्षेत्र में एक व्यापक व्योम का निर्माण होता है। उस व्योम से प्रेरित वायुवेग हिंद महासागर से तिब्बत के हिमनदों की तरफ आकर्षित होता है, वही कालिदास का मेघदूत या जनभाषा का मानसून है।

3— यह मानसून उत्तर में हिमालय शिखरों तक, पूर्व में म्यांमार तक फैली उपत्यकाओं तक, दक्षिण में हिंद महासागर स्थित श्रीलंका तक और पश्चिम में अरब सागर और बलूच पठार तक इस उपमहाद्वीप का सीमांकन करता है। साल भर में बरसने वाले पानी को संचालित करता है, जिससे पूरा उपमहाद्वीप भारत—वर्ष कहलाता है। 'वर्ष—वर्षा' उस आकाश मार्ग से उपलब्ध जल को कहते हैं, जो एक साल (बरस) के लिए होता है।

4— इस जल प्रणाली का एक महत्वपूर्ण घटक—विशाल भूखंड, दक्षिण एशिया का संयुक्त, समुचित जल निर्गम भी है। इस अंचल के समस्त मैदान और पहाड़ों के ढलान की मिट्टी और आर्द्रता मानसून और जल निर्गम के अति विशिष्ट उपादान हैं।

5— अगर इस उपमहाद्वीप को 78 डिग्री देशांतर रेखा से दो भागों में बांट दें तो कन्याकुमारी से श्रीनगर तक जो रेखा है, उसके पूर्वी अर्धांग में बरसात बंगाल की खाड़ी से आती है और लगभग पचहत्तर प्रतिशत होती है। पश्चिमी अर्धांग की बारिश अरब सागर से आती है और पचीस प्रतिशत होती है। जिस दिशा से जितना पानी आता है, उस दिशा को उतना ही वापस लौटता है।

6— हिंद महासागर में सुदूर दक्षिण से जो मानसून ठेठ उत्तर की दिशा में चलता है, वह भूखंड पहुंचते—पहुंचते पृथ्वी की दैनंदिन प्रक्रिया की गति के कारण बड़ी मात्रा में पूर्वी पृथ्वी की तरफ मुड़ जाता है। बंगाल की खाड़ी से जल उठाता है, म्यांमार की अराकान पर्वत श्रृंखला से टकरा कर बरसता है और बंगाल—असम के हिमालय और गंगा के मैदान, ओडीशा से मध्य प्रदेश की तरफ मुड़ जाता है। मानसून का यह बंगाल की खाड़ी वाला

अंग हमारे देश में प्रमुख वर्षा करता है।

7— पूर्वमुखी मानसून का एक बड़ा भाग चीन, दक्षिण पूर्वी एशिया, हिंद एशिया, मलेशिया के रास्ते जापान और आस्ट्रेलिया की तरफ चला जाता है। यह पूरे इलाके में जलवायु का प्रमुख कारक है।

8— इसी तरह पूर्व से उत्तर पश्चिम की तरफ बहने वाले मानसून का एक भाग हिमालय और एक भाग हिंदूकुश उल्लांघ कर मध्य एशिया—अराल समुद्र की तरफ बढ़ता है और एक ठेठ पश्चिमी वेग मिस्र—मेसोपोटामिया की तरफ चला जाता है। जो शाखा वाया अरब सागर ठेठ दक्षिण से उत्तर—पश्चिम की तरफ बहती है, वह इसी मुख्य धारा में जुड़ जाती है।

9— वर्षा की मात्रा में विविधता और अन्य अनेक विविधताएं इस उपमहाद्वीप में पचास विविध पारिस्थितिकीय अंचलों का निर्माण करती हैं, जो शेष विश्व में पाई जाने वाली भौगोलिक विविधता से कुछ ज्यादा हैं।

10— म्यांमार से ढाका होकर कन्याकुमारी तक और वहां से कराची तक लगभग सात हजार मील लंबे तट पर हजारों डेल्टा (मुहाने) और छोटे—बड़े पश्चजल क्षेत्र (बैंक वाटर) स्थित हैं। दक्षिण एशिया तटीय भूभाग का जैव वैविध्य विश्व के अन्य किसी भी तट से कई गुना अधिक है। इस तटीय संपदा का मूल कारक वह शुद्ध—मीठे जल की अंतरधारा है, जो विशाल नदियों द्वारा लाए गए जल, गाद आदि से निर्मित होती है और समूचे उपमहाद्वीप के तट को एक सूत्र में बांधती है।

ऐसी तमाम विशेषताओं, भौतिक यथार्थ और इनकी जटिल प्रणालियों को सांस्कृतिक मूल्यों में संश्लिष्ट किया गया था। 'लौकिकवादी पुनरुत्थान' के सिलसिले में सांस्कृतिक मानस छिन्न—भिन्न हो गया। भौतिकवादी दृष्टि ने प्रकृति को छिन्न—भिन्न कर दिया है। समग्रता में सोचना ही छोड़ दिया गया है लेकिन भारतीय उपमहाद्वीप की मानसून और जल निर्गम प्रणाली में चीन सहित समस्त यूरेशिया (जंबू द्वीप) का हित निहित है। सब कुछ नष्ट होने से पहले एशियाई देशों को मूल मानसून या एशियाई मानसून की सुरक्षा के लिए विकास की नई तरतीब तजवीजनी होगी।

सिंधु-गंगा का मैदान हिमालय के जल-निर्गम (ड्रेनेज) से बना है। प्राकृतिक आर्द्रता की विविधता एक अत्यंत संश्लिष्ट प्रणाली है। भारतीय उपमहाद्वीप का समग्र भू-परिदृश्य एक बहुरंगी बुनावट है, जो अपने आप में एक सुनियोजित व्यवस्था है। इस बुनावट में आमूलचूल परिवर्तन के गंभीर नतीजे हो सकते हैं लेकिन आज तो 'नेतृत्व' और 'विद्वत वर्ग' आर्द्र पूर्वार्ध से शुष्क पश्चिमी अर्धांग को जल प्लावित कर परमात्मा की तरह सर्वशक्तिमान बनने को आतुर है। पिछले पौने दो सौ बरसों में जितनी सफलता मिली है, उसके इतिहास और नतीजों का गंभीर परीक्षण होना चाहिए वरना साम्राज्यवादी शोषण और षड्यंत्र की समझ अधूरी ही रह जाएगी।

अंग्रेजों के भारत आगमन तक हमारी अतिविशिष्ट जल-चेतना अक्षुण्ण थी। न तो हिमालय की पवित्रता पर कोई हमला हुआ था और न ही जल निर्गम प्रणाली में कोई व्यवधान डालने का प्रयास किया गया था। फिरोज तुगलक के समय में पंजाब में जो नहर निर्माण कर सिंचाई का प्रयोग किया गया वह सौ बरसों में ही दफन किया गया। मुगल बादशाह ने दिल्ली क्षेत्र में शाहजहानाबाद बसाया तो सैकड़ों वर्ग मील भूभाग में फलों के बागों की रक्षा के लिए और लाल किले की खाई में पानी भरने के लिए यमुना से निकले एक रजवाहे का नहर की तरह उपयोग किया।

इस नहर से कृषि सिंचाई की इज़ाजत नहीं थी और दिल्ली तक जितना पानी उपयोग में लिया जाता था उससे अधिक जल दिल्ली की अरावली पहाड़ियों के आगोर से यमुना नदी में व्यवस्थित रूप से लौटने दिया जाता था। उस युग के अति साधारण भारतीय तक को यह समझ थी कि समस्त नदियों के जल पर पहला अधिकार समुद्र और बाढ़ क्षेत्र का है और जो अंतिम जीवात्मा उस जल पर निर्भर है उसके मूल अधिकार की रक्षा के लिए समस्त जल की निर्बाध अविरलता अनिवार्य है। निरंतर बहना जल की प्रकृति है, इसलिए अविरल जल ही निर्मल है। 'बहता पानी निर्मल' शाश्वत सिद्धांत है।

पूरे देश में तालाबों की व्यवस्था मूलतः जल निर्गम की निरंतरता, और सर्दी के मौसम से लेकर गर्मियों तक सूखी हवाओं को आर्द्रता देने के लिए थी। बरसात का कुल पानी तुरंत न बह जाए इसलिए प्रकृति द्वारा निर्मित

गड्डों में उसे रोक लेते थे ताकि सतही आर्द्रता से लेकर पाताल तक जल निर्गम सदैव सक्रिय बना रहे। व्यापक ताल-तालाब व्यवस्था का एक लाभ यह भी था कि मानसून के आगमन से पहले और प्रस्थान के बाद भी स्थानीय स्तर पर नियमित बरसात हो जाया करती थी। सिंधु-गंगा के मैदान का हर गांव लंका की तरह बसा था। सर्दियों की नियमितता और मध्य हिमालय की बर्फबारी इसी मानव निर्मित तरावट पर आधारित थी।

उन्नीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक से फिरंगी शासकों ने नदियों से छेड़छाड़ शुरू की ताकि किसानों से नहर सिंचाई के नाम पर वसूली की जाए। 1830 में पहली नहर यमुना-गंगा दोआब के क्षेत्र में निकाली गई। वहां के किसानों ने 1857 के विप्लव में सक्रिय हिस्सेदारी की। वह कहानी इस लेख में नहीं सुनाई जा सकती। नहर की जरूरत किसानों को नहीं थी बल्कि उसकी जरूरत पानी का टैक्स वसूलने के लिए कंपनी सरकार को थी। भारत के हिस्टोरियन्स जब कभी इतिहास की विधा सीख कर 1857 के गदर की कहानी सुनाएं तब ही यह वास्तविकता स्पष्ट हो सकेगी।

पठानकोट से चटगांव तक की तराई कट चुकी है। गंगा नदी की हत्या हो चुकी है। यमुना तो कालपी पहुंचने के पहले ही नष्ट हो जाती है। दिल्ली में यमुना के नाम का जो गंदा नाला बहता है उसे देखने में भी घिन लगती है। जहां दृष्टि डालो हिमालय का सर्वनाश ही दिखाई पड़ता है।

ब्रह्मपुत्र-मेघना-गंगा के जल की अंतर-घाटी हस्तांतरण योजना भारत ने 1970 में ही बनानी शुरू कर दी थी। किन्हीं कारणों से योजना शुरू नहीं की जा सकी। लेकिन चीन ने ब्रह्मपुत्र को मोड़ने की योजना क्रियान्वित कर ली तो एतराज की क्या बात है? आप भागीरथी को बांध चुके हैं तो चीन ब्रह्मपुत्र को क्यों नहीं मोड़ सकता? जब तिब्बत मुक्ति आंदोलन के लिए न संकल्प है न सामर्थ्य, फिर ब्रह्मपुत्र पर चीन के अधिकार को चुनौती कैसे दी जा सकती है ?

इस तथ्य में कहीं धोखा नहीं होना चाहिए कि हिमालय के लिए लड़ाई दो अधकचरी आधुनिकताओं के बीच होनी है तो चीन के मुकाबले में हमारी हार सुनिश्चित है। चीन को अमेरिका का कोई खौफ नहीं है। यों भी

अमेरिका खनिज तेल की जो लड़ाई अरब क्षेत्र में लड़ रहा है, उसके चलते वह चीन से बिल्कुल नहीं उलझेगा। आज परिस्थितियां 1962 से बिल्कुल विपरीत हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था को चीनियों का सहारा है। इसलिए इस बात की अधिक संभावना है कि अमेरिका अनेक मजबूरियों के कारण संकट के दौरान चीन के समर्थन में खड़ा दिखाई पड़े। रूस से किसी भी तरह के सहयोग की उम्मीद ही गलत होगी; बाकी है कौन, जो हमारा सहयोग करेगा?

बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि आज देश में एक भी नेता दिखाई नहीं पड़ता, जिसे अनुमान हो कि उत्तरी सीमा पर चीन ने भारतीय उपमहाद्वीप की कितनी जमीन पर कब्जा कर रखा है। पाकिस्तान ने अपने सीमांचल में उसे कितना अधिकार दे रखा है? या म्यांमार में चीनियों ने किस किस की घुसपैठ बना ली है। किसी नेता को यह अनुमान भी शायद ही हो कि हिमालय में कुल सीमा कितनी है और वहां कुल मिलाकर कितने मोर्चे खोलने पड़ेंगे।

सामरिक रणनीति पर विचार से ज्यादा महत्त्व हिमालय क्षेत्र में नए विकास का है, उपमहाद्वीप की परिस्थितिकी के आधार पर विश्व स्तर पर एक भारत केन्द्रित पर्यावरण आंदोलन शुरू करने का है। लिहाजा पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, भूटान, म्यांमार, श्रीलंका, अफगानिस्तान की सक्रिय भागीदारी और सहकार जुटा कर उपमहाद्वीप की भौगोलिक एकता पर शोध और संवाद आयोजित किए जाएं। ऐसे उपमहाद्वीपीय आधार पर चीन के साथ हिमालय—हिमनदों के हालात पर चर्चा संवाद की शुरुआत होनी चाहिए।

एशिया ही नहीं, पूरे विश्व को इस बात से सरोकार होना चाहिए कि हिमालय में जो बर्फबारी होती है, उसकी प्रक्रिया क्या है? मध्य हिमालय में बर्फबारी लगातार घट रही है, हिमनद पिघल रहे हैं। इन विषयों में क्या परस्परता है? हाल—फिलहाल कोई अनुमान उपलब्ध नहीं है कि हिमालय में कुल कितनी बर्फबारी होती है। उसके लिए आवश्यक आर्द्रता या तरावट का स्रोत कहां है? हिंद महासागर में या चीन सागर में। आधुनिक विज्ञान के जरिए यह जानने का प्रयास तो होना ही चाहिए कि सिंधु—गंगा के मैदान की आर्द्रता और तराई की तरावट से हिमालय के पर्यावरण का रिश्ता क्या है ?

आज जो मौसम—विज्ञान, वायुमंडल और आकाश की समझ उपलब्ध

है, उसके आधार पर यह विमर्श अवश्य बनाया जा सकता है कि 'भारतीय मानसून' का वैश्विक पर्यावरण पर क्या प्रभाव होता है।

यह तो सहज स्पष्ट है कि हिमालय के दक्षिणी पनढाल का जो महत्त्व भारतीय उपमहाद्वीप के लिए है लगभग वैसा ही महत्त्व उत्तरी पनढाल का चीन के लिए है। समग्र दृष्टि से देखें तो हिमालय चीन और भारत की साझा विरासत है। इसकी साझा-संभाल में दोनों की बराबर की भागीदारी और सहयोग अनिवार्य है।

भारत के प्रबुद्ध समाज को अपने राजनीतिक नेतृत्व और स्वयंसेवी संगठनों (एनजीओ) से यह उम्मीद बिल्कुल छोड़ देनी चाहिए कि वे हिमालय की रक्षा के लिए कोई नई पहल करेंगे। पहली बूझने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त है। भारतीय जनता पार्टी अपने को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की पार्टी मानती है। कैलाश-मानसरोवर के लिए सरोकार की बात तो छोड़ दीजिए, गंगा घाटी में सोलह सौ बांध बनाने की योजना भाजपा सरकार द्वारा चलाई जा रही है। स्वामी निगमानंद और बाबा नागनाथ के आत्मबलिदान के बाद भी इस विषय पर कहीं कोई आलोचना नहीं है कि गंगा पूरी तरह विलुप्त हो गई तो क्या होगा? 2013 और 2015 के मानसून में उत्तराखंड और हिमाचल की जो तबाही हुई, क्या उससे कोई सबक लेंगे?

हमें देश को आगाह करना होगा कि जल-मल शोधन संयंत्र की योजना से गंगा की अविरलता नहीं लौट सकती। इन सभी योजनाओं का स्रोत विश्व बैंक द्वारा प्रस्तावित है, जो सिर्फ पचीस-पचास हजार करोड़ रुपए के संयंत्र बिकवाने में रुचि रखता है, गंगा को शुद्ध करने में नहीं।

हिमालय चेतना आंदोलन का प्रयास तो समाजवादी नेता राममनोहर लोहिया की तरह प्रबुद्ध जनों को निजी जोखिम पर शुरू करना होगा। लोहिया ने पचास बरस पहले जो कुछ कहा, लिखा, उसका संदर्भ और परिप्रेक्ष्य किसी हद तक बदल चुका है किन्तु 'हिमालय बचाओ' का नारा आज भी विश्व पर्यावरण का एक प्राथमिक मुद्दा है।

पानी पर पहला अधिकार समुद्र का

भारत भूमि और उसकी परिस्थितिकी निर्माण के दो मूल कारक हैं। पहला हिमालय और दूसरा हिन्द महासागर। आधुनिक जियोपॉलिटिकल भू-राजनैतिक मुहावरे में दक्षिण एशिया कहा जाने वाला यह भू भाग पूरी दुनिया का सर्वाधिक अन्न उत्पादक क्षेत्र या धान का कटोरा है। इस क्षेत्र में प्राकृतिक क्षमता के अनुरूप योगदान होने लगे तो यह अकेला दक्षिण एशिया दुनिया की भूख का निराकरण कर सकता है। विभिन्न शाखाओं के वैज्ञानिक एकमत हैं कि भारत देश की अन्न उत्पादन क्षमता 300 करोड़ टन से ज्यादा है। यह कोई गोपनीय तथ्य नहीं है। इस तथ्य का सीधा रिश्ता हिमालय के दक्षिणी पनढाल और हिन्द महासागर से है यानी एशियाई मानसून पारिस्थितिकी या जलवायु से है।

अप्रैल से सितम्बर तक जो समुद्री हवाएं महासागर से उठकर हिमालय की तरफ चलती हैं उन्हीं का नाम मानसून है। यही मानसून हिन्दुस्तान की भूमि पर हर साल विशालतम महानदियों के अतिरिक्त डेढ़ दर्जन सदा सुहागन महानदियों तथा चप्पे-चप्पे को सर्वदा जल प्लावित बनाएं रखता है। यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अरावली से निकल कर मरुस्थल में बहने वाली लूनी भी ऐसी ही नदी है, जिसने कच्छ के डेल्टा का निर्माण किया है। यह बात अलग है कि हम पिछले दो सौ बरस से लगातार भारत की उत्पादकता का विनाश कर रहे हैं। और इस प्रक्रिया में हम लूनी और साबरमती जैसी कई नदियों की पारिस्थितिकी को नष्ट कर उनकी हत्या कर चुके हैं। यह सारा विनाश हमने साईंस से प्रेरित होकर मानवता आदि के नाम पर किया है। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में हिन्दुस्तानी सांस्कृतिक चेतना का जो ह्रास हुआ, उसका हमें ठीक-ठीक अन्दाज नहीं है। इसमें पानी की चेतना का ह्रास तो विशेष चिन्ता का विषय है।

हिन्दुस्तान सदा-सर्वदा से नदी-नालों का देश है। उत्तर में सिन्धु तथा ब्रह्मपुत्र से लेकर कन्याकुमारी तक उन्नीस महानदी क्षेत्रों में हजारों नदियां साल भर जल प्लावित रहती हैं। हिमालय के दक्षिण क्षेत्र में समस्त मानव जाति के लिए 'सिन्धु' अथवा 'हिन्दु' संज्ञा का प्रयोग प्राचीन काल से प्रचलित है। सिन्धु जल का पर्याय है, इसलिए सिन्धु से परिवर्तित हिन्दू भी

जल—प्लावित व्यक्ति और देश का पर्याय है ।

आधुनिक साइन्स के विपरीत शाश्वत जल विज्ञान की मान्यता है कि जल का संरक्षण ठीक उसी स्थान पर होना चाहिए जहां जल की बूंद बरसती है । जब पृथ्वी पर गिरी बूंद अपने स्थान से आगे बढ़ जाती है, तब उसके संरक्षण का प्रयास अनर्थकारी नहीं तो भी अवैज्ञानिक तो है ही । बूंद गिर कर बह जाएगी तो सतह पर अपेक्षित सजलता नहीं बनेगी क्योंकि पानी तो अपने दबाव से ही धरती के भीतर प्रवेश करता है । इसलिए अनिवार्य है कि पानी जहां गिरे, वहीं थमे और उस बिन्दु पर पर्याप्त सजलता निर्मित हो जाय यानी पानी को धरती के भीतर जाने का यथोचित मार्ग और दबाव मिल जाय, ताकि अतिरिक्त पानी आगे जा सके । यदि जल आकाश से गिरते ही आगे बढ़ गया तो न धरती सजल बनेगी और न ही मिट्टी अपने स्थान पर रुकेगी । सतही सजलता का शीघ्र वाष्पीकरण होता है । धरती काफी गहराई तक सजल होगी तो शीघ्र वाष्पीकरण की बजाय हरियाली (बायोमास) उत्पादन की प्रक्रिया शुरू हो जायेगी । जमीन की सतह पर जैव सामग्री होगी तो मिट्टी का संरक्षण होगा । पर्याप्त मिट्टी और हरियाली होगी तो जल का स्वतः संरक्षण होगा । पानी नदी, नालों, झरनों, झील, तालाबों में स्वतः रिस—रिस कर आवश्यकता के अनुरूप पहुंचेगा और ऊपरी सतह के नीचे अनेक स्तरों पर ड्रेनेज (पानी का निकास—बहाव) बना रहेगा । धरती को क्षारीकरण से बचाने के लिए धरती की सतह और उसके बहुत नीचे तक नियमित ड्रेनेज अनिवार्य है ।

हिन्दुस्तान में पानी सिर्फ 60 से 100 दिन बरसता है, किन्तु ड्रेनेज तो साल भर बना रहना चाहिए । यह तभी संभव है जब धरती के भीतर पर्याप्त पानी होगा । इसी तथ्य का दूसरा पक्ष है कि धरती भीतर से सजल होगी तो खाद्यान्न उत्पादकता के लिए ऊपर की मामूली सिंचाई पर्याप्त होगी । इसका अर्थ यह हुआ कि जल विज्ञान के अनुसार जल का लगातार बहते रहना अनिवार्य तत्त्व है, न कि बांध बना कर उसमें गतिरोध पैदा करना । 'बाढ़ नियंत्रण' एवं बांध बनाकर 'जल संरक्षण' की आधुनिक अवधारणा प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित नहीं है क्योंकि सहज पारंपरिक जल विज्ञान का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त समस्त डेल्टा क्षेत्र की नियमित एवं निरन्तर धुलाई (फलशिंग) है । डेल्टा की उत्पादकता ऐसी धुलाई पर निर्भर है । यदि नदी मुख

(डेल्टा) समुचित रूप से धुलेंगे नहीं तो समुद्रीय क्षार तट के कण-कण को क्षारीय/लवणीय बनाता समूची भारत भूमि को लील सकता है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय धरती का बड़ा भाग नदियों द्वारा बिछायी गयी मिट्टी से बना है, न कि यूरोप की तरह चट्टानों से। भारत की बड़ी विशेषता है कि यहां की उत्पादकता केवल मध्य देश आधारित नहीं बल्कि डेल्टा आधारित है। पूर्व में गंगा-ब्रह्मपुत्र के डेल्टा से लेकर दक्षिण में पेन्नार के डेल्टा तक अत्यन्त उपजाऊ असंख्य तटीय डेल्टा क्षेत्र स्थित हैं। हमारे पूर्वी तट को तो पूरी तरह नदियों ने समुद्र से निकाल कर बनाया है। पश्चिमी तट में भी छोटे-बड़े डेल्टा क्षेत्र हैं। भारत की सर्वोत्तम उपजाऊ भूमि डेल्टा क्षेत्रों की है। यहां वनस्पतियों की बहुतायत है। बरसाती मौसम से ले कर ठेठ गर्मी के मौसम तक इन डेल्टा क्षेत्रों की धुलाई होते रहना जरूरी है, जो नदी की अविरल धारा से ही संभव है। यदि ऐसा न किया गया तो साबरमती और लूनी जैसी नदियों के विनाश के समान परिणाम हमारे सामने होंगे।

अब साईंस लगातार नारा लगा रही है कि देश का बहुमूल्य पानी समुद्र में व्यर्थ बह कर जा रहा है। देश के 'महानतम' साइंटिस्ट पूर्व राष्ट्रपति अबुल कलाम की भी राय है कि बड़े-बड़े बांधों-जलाशयों में पानी रोक कर भारत की समस्त नदियों को नहरों से जोड़ दिया जाय और पानी की एक बूंद भी समुद्र में व्यर्थ न बहने दी जाए। समुद्र को तो तरह-तरह से अत्याचार सहने की आदत है। वह शायद इस अत्याचार को भी सह लेगा लेकिन भारत का आम आदमी एक-एक बूंद के लिए तरस जाएगा।

समुद्र में जाने वाली नदियों के पानी को व्यर्थ बताने का यह तर्क बार-बार दिया जाता है। बांध बनाकर नदी के पानी को समुद्र में जाने से रोकने की यह तर्क प्रणाली विध्वंसकारी है। इसलिए अपने-अपने राज्यों में बह रही नदियों के पानी पर एकछत्र अधिकार का दावा करने वाले मुख्यमंत्रियों और देश के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री को सबसे पहले यह जानना होगा कि नदियों के पानी के असली स्वामी वे नहीं 'समुद्र' हैं। कोई भी साइन्स या विज्ञान नदी जल को समुद्र में जाने से नहीं रोक सकता। इसलिए सबसे पहले हमें अपने संविधान में लिखना होगा कि पानी पर पहला हक समुद्र का है। इस बुनियादी सिद्धान्त को मानकर ही नदी जल बंटवारे के नियम-कानून बनाने होंगे।

लोक विज्ञान का मुहावरा है— 'बहता पानी निर्मला'। इस मुहावरे का दार्शनिक तत्त्व यही है कि पानी की निर्मलता उसकी गत्यात्मकता में निहित है। पानी की उपलब्धि चक्रीय प्रणाली के तहत है जिसमें अनेक वैज्ञानिक कारणों से जो पानी भाप बन कर समुद्र से चला है और बारिश बन कर धरती पर बरसा है, उसका समुद्र में वापस लौटना अनिवार्य है। मनुष्य जब इस प्रक्रिया में अवरोध स्थापित करेगा तो पानी की प्रवृत्ति में आमूलचूल परिवर्तन हो जायेगा। कावेरी के अवरुद्ध प्रवाह के कारण व्यापक हिंसा का वातावरण बन जाय तो इसमें आश्चर्य नहीं। पानी के नियमित प्रवाह को अवरुद्ध करना प्रकृति के विरुद्ध गंभीर हिंसा है। प्राकृतिक विधान के अनुसार नदियों में उपलब्ध समस्त जल पर प्रथम और अन्तिम अधिकार समुद्र का है। इस सिद्धान्त का उल्लंघन मानव के आत्मघाती चरित्र का लक्षण है। अपनी लड़ाई को विस्तार देने से पहले तमिल और कन्नड़ नेताओं को इस तथ्य पर एक-एक गिलास शीतल बोतलबंद पानी पीकर ठंडे दिमाग से अवश्य गौर कर लेना चाहिए।

आज लाखों करोड़ रुपये की बांध एवं जल विद्युत योजनाएं प्रगति पर हैं या प्रस्तावित हैं। इनमें से एक भी समुचित वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित नहीं है। पानी को हरियाली द्वारा रोके जाने के अतिरिक्त सिर्फ प्रकृति द्वारा निर्मित भराव क्षेत्रों में ही रोका जाना चाहिए और उसे अपने द्वारा निर्धारित प्राकृतिक मार्गों पर ही बहने देना चाहिए। दामोदर नदी घाटी जल विद्युत योजना का इतिहास प्रमाण है कि पानी किसी की धींगामस्ती बर्दाश्त नहीं करता। साइन्स को साइन्स का इतिहास जरूर पढ़ना चाहिए। साइन्स और समाज का जो संबंध विकसित हुआ है, उसे भी जानना—समझना आवश्यक है। पानी को अप्राकृतिक ढंग से बांधने पर ही पानी का सम्पत्तिकरण शुरू होता है।

धरती का आवरण जल नहीं, हरियाली है। पानी का स्थायी स्रोत भी हरियाली है। जहां पर्याप्त हरियाली है वहां प्रकृति आवश्यकता का पानी जुटा देगी। हरियाली नष्ट करके पानी एकत्रित करना केवल खतरनाक खिलवाड़ ही नहीं अवैज्ञानिक भी है। जल से ऊर्जा/विद्युत का उत्पादन भी बहते पानी से होना चाहिए; वनस्पति, वन्य जीव, प्राणियों को उजाड़ कर नहीं। बरसात का चरित्र पूर्णरूपेण हरियाली के चरित्र पर निर्भर करता है। जहां हरियाली है

वहां किसी असंतुलन के कारण यदि बादल फट भी जाय तो वहां की धरती अतिवर्षा सहन कर लेती है, किन्तु जहां हरियाली नहीं है वहां तो साधारण से थोड़ी ज्यादा बारिश भी व्यापक विनाश का कारण बन जाती है और नन्हीं बूंदें भाप बन कर तुरत-फुरत उड़ जाती हैं, यानी बरसात निरर्थक है।

हिन्दुस्तान में जिस विचार और आचरण को धर्म कहा जाता है, उसमें जल शास्त्र, शुचिता और कर्मकांड आदि का प्राथमिक महत्त्व है। इस देश की धरती पर पानी सिर्फ तीन-चार महीने बरसता है लेकिन धरती की धुलाई तो निरन्तर चाहिए। इसी प्रकार हमारे समाज ने इस विज्ञान को अनादि काल से आत्मसात किया था कि धरती भीतर से सजल हो तो सतह पर मामूली छिड़काव भी पर्याप्त सिंचाई है।

हिन्दू जाति ने इसी ज्ञान को तीर्थ परम्परा में अभिव्यक्त किया है। तीर्थ सिद्धान्त में महत्त्व जल की अनवरत अविरलता का है न कि बांध बना कर उसमें गतिरोध पैदा करने का। जल संरक्षण और बाढ़ नियंत्रण का आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी वैज्ञानिक विमर्श पर आधारित नहीं है। उत्तरी बिहार, आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र और दिल्ली से आगरा व इटावा तक की गन्दे नाले से भी गन्दी यमुना की समस्याएं इस बात के प्रमाण हैं। पिछले पचास सालों में बाढ़ पीड़ित क्षेत्र ढाई करोड़ हेक्टेयर से पांच करोड़ हेक्टेयर हो गया है। इस दौरान पूर्वी उत्तर प्रदेश से लेकर बंगाल तक कितना सर्वनाश हुआ है, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

जीवन के लिए जल का अविरल बहना भी उतना ही जरूरी है जितना कि जल का संरक्षण। जल के समुचित संरक्षण और पर्याप्त व अविरल बहाव में सन्तुलन स्थापित करने के विज्ञान को ही तीर्थ विज्ञान कहते हैं। यह भारतीय जीवन दर्शन का तत्त्वबोध है। जल संरक्षण का कार्यक्रम न्यूनतम स्तर का हो या नर्मदा और टिहरी जैसी नदियों पर बड़े बांधों के स्तर का हो, उसमें जल दर्शन के दोनों सिद्धान्तों का पालन अनिवार्य है। इस सन्दर्भ में आज जिस प्रकार तदर्थवादी और अवैज्ञानिक तरीके के जल भरण क्षेत्र के विकास के कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं वे बहुत खतरनाक हैं। इस आत्मघाती मानस के नतीजे निकट भविष्य में कितने घातक हो सकते हैं, इसका अनुमान पानी-जन्य महामारियों के व्यापक विस्तार से लगाया जा सकता है।

6. गंगा की पवित्रता और नदियों की मृत्यु

गंगा किसी एक अकेली नदी का नाम नहीं है। गंगा नाम से कई नदियां मिलेंगी। राम गंगा, बाण गंगा तो हैं ही अन्य नदियों को भी लोग गंगा के नाम से पुकारते हैं, जैसे— गया की फल्गु को गंगा कहा जाता है। जब गंगा की पवित्रता की बात हो रही हो तो समझना चाहिए कि इस अर्थ की व्यापकता समस्त पवित्र जल तक जायेगी, जिसका नेतृत्व हिमालय की गंगा करती है।

पिछले दिनों गंगा की मूल धारा भागीरथी को टिहरी बांध में कैद कर दिया गया। तब से केवल अलकनंदा और मंदाकिनी का जल ही गंगा में प्रवाहित हो रहा है, वह भी हरिद्वार तक। गंगा जी में तो आज ऋषिकेश और हरिद्वार से निकाली जाने वाली नहरों के लिए भी पर्याप्त पानी उपलब्ध नहीं है। हिमालय से आने वाली बची—खुची गंगा का तो हरिद्वार—कनखल में प्रवेश से पहले ही अस्तित्व शून्य हो जाता है। यह कैसी असाधारण घटना है कि 20वीं सदी के पूरा होते—होते गंगा का भागीरथी रूप ही समाप्त हो गया, न कोई प्रतिक्रिया हुई, न कोई चिंता, किसी किस्म की सांस्कृतिक धार्मिक पीड़ा का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

यहां यह याद दिलाना जरूरी है कि 18वीं सदी तक हिंदुस्तान सोने की चिड़िया क्यों कहलाता था। लोक विद्याओं की विशद परंपरा तो अपनी जगह हैं ही लेकिन इस देश की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कृति और कर्मकांड मिट्टी, पानी और वनस्पति से जुड़े हुए हैं। भारत देश में समाज, सभ्यता, संस्कृति और अकूत संपदा का निर्माण जल—जंगल—जमीन के वैदिक विज्ञान को विस्तार देकर ही हुआ था। आज भी इससे अतिरिक्त दूसरा रास्ता नहीं। हिंदुस्तान की एक—डेढ़ अरब जनता को स्वच्छ जल उपलब्ध कराना स्वच्छन्द नदी की अविरलता के स्थायीकरण से ही संभव होगा। किसी भी अन्य रीति से इतने व्यापक स्तर पर निर्मल जल की व्यवस्था असंभव है।

भारतीय धर्म व्यवस्था में सरस, निर्मल, पतित पावन जल की अजस्र धारा को ही सरस्वती कहा गया है। सरस्वती की वैदिक स्तुति में यह स्पष्ट है

किं निर्मल जल समस्त जीवन, मानव एवं सृष्टि की स्मृति, विद्या, स्वास्थ्य, स्फूर्ति आदि का कारक स्रोत है। सरस्वती का मूल अर्थ ही निर्मल जल की अजस्र धारा है। यही अजस्र धारा समस्त विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती भी है। यह अनुभव जन्य सिद्धांत है कि निर्मल जल के दर्शन/स्पर्श से स्फूर्ति एवं चेतना स्वतः आ जाती है। जलोपचार की पद्धति न आश्चर्य है, न चमत्कार। यह निर्मल जल की सहज प्रवृत्ति है। जल की किसी भी अजस्र धारा में सरस्वती की अंतरधारा सदैव विद्यमान है, प्रवाहित है।

सरस्वती की सगी बहन लक्ष्मी भी जल, जलचर और उसके शब्द से उत्पन्न माया की पर्याय है, उससे किसी भी स्तर पर भिन्न नहीं। लक्ष्मी रूपी जल भी माया है। महानदी गंगा भी लक्ष्मी का मूर्त रूप है। हिंदू जो विशुद्ध उच्चारण में सिंधु है, वह भी जल की प्रवृत्तियों और चरित्र का पर्याय है। हिंदी, हिंदू, इन्दै, इंडिया, इन्दस ये सभी शब्द सिंधु शब्द के विदेशी पर्याय हैं। सिंधु की वृहद परिभाषा वाल्मीकी रामायण में उपलब्ध है। राम जब सीता की खोज में समुद्र के पार वाली लंका में जाना चाहते हैं तब सिंधु—राम संवाद होता है, जो अपने आप में पर्यावरण शास्त्र का मौलिक आख्यान है।

हमें सर्वदा याद रखना होगा कि हिंदुस्तान की समस्त आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था की संरचना मिट्टी, पानी और वनस्पति की ईश्वर—सदृश पूजा—आराधना में निहित है। जल, मिट्टी और वनस्पति से संबंधित विद्या को तीर्थ विज्ञान भी कह सकते हैं। इसी तीर्थ विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण भौतिक पक्ष यह है कि भारत की सजलता और जलवायु की आर्द्रता अनेक स्थानीय विशिष्टताएं, जिनमें थार मरुस्थल जैसे सूखे पर्यावरण भी सम्मिलित हैं, मिल कर निर्मित करती हैं।

तीर्थ विज्ञान की मान्यतानुसार जैसे भूलोक समुद्रवसना है ठीक वैसे ही ब्रह्मांड भी जलयुक्त है। इसीलिए हिंदू शास्त्र में ब्रह्मांड को आकाश गंगा कहा गया है। समस्त जल अंतरिक्ष में निर्मित जीवन तत्त्व है, इसीलिए ईश्वर रूप है। जल की पवित्रता का यही आधार है कि उसकी नियमित आपूर्ति द्युलोक से होती है। इसीलिए समस्त जल पूजनीय है और समस्त नदियां गंगा रूप हैं। वैदिक संस्कृति का पालन करने वाले भारत देश में जलयुक्त प्रत्येक स्थान — घर परिवार में घड़ा/कलश रखने के स्थान से लेकर कुंड, कुएं, जोहड़, बावड़ी, तालाब, नदी, नालों और समुद्र के किनारों तक पवित्र तीर्थ हैं। अपने देश में एक नहीं सैकड़ों गंगा हैं। समस्त पवित्र जल देव लोक से आता है और देवलोक को जाता है लेकिन जहां साईंटिस्ट जल—संवाद की शुरुआत इस तथ्य से करते हैं कि कितना पानी

समुद्र में व्यर्थ जा रहा है, प्यासी धरती को सजल बनाने के लिए इसका उपयोग तो होना ही चाहिए वहां के साईंटिफिक टेम्पर को तो ठीक से समझना पड़ेगा। साईंसनिष्ठ सुधारवादियों का भी इन विषयों पर कोई ध्यान नहीं जाता। जल संरक्षण का नारा सहज भाव से लगाया जाता है लेकिन भारत जैसे देश में डेल्टा और ड्रैनेज की आवश्यकता पर कहीं बहस ही नहीं होती। समुद्र के हक की चर्चा न तो प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी (जो बनारस से लोक सभा सदस्य हैं) करते हैं; न उमा भारती, जो बुन्देलखंड की प्रतिनिधि हैं और न ही जयललिता, जो माँ कावेरी की बेटी हैं।

समस्त संस्कारों और शुभ कार्यों में जल यानी वरुण देव की साक्षी अनिवार्य है। आधुनिक साईंटिस्ट यदि गणितज्ञ—प्रतिमान (**Mathematical Model**) के आधार पर पृथ्वी पर उपलब्ध पवित्र—शुद्ध जल की गणना का प्रयास करेंगे तो बड़ी आसानी से यह बात समझ जाएंगे कि निर्मल जल का स्रोत अंतरिक्ष में स्थित है। पृथ्वी के जलवायु का स्रोत अंतरिक्ष—स्थित न होता तो 20वीं सदी में प्रदूषण का स्तर कहां तक गिर जाता, इसका अनुमान भी संभव नहीं। यह सहज स्वाभाविक है कि जल को ईश्वर मानने वाले देश में समस्त नदियां गंगा का प्रतिरूप हैं और महानदी गंगा की तरह आराध्य मातृ—देव रूप में प्रतिष्ठित हैं।

मानव शरीर में जिस तरह रक्तवाहिनी शिराओं का जाल बिछा है, ठीक उसी तरह धरती सतह से लेकर पाताल तक विविध आकार—प्रकार की जलधाराओं से प्लावित है। प्रकृति ने जल निर्गम को व्यापक और विस्तृत बनाने के लिए नाली से नाले और उनसे नदी—नद बनाने का विधान रचा। नदियों की गति और प्रवाह मार्ग की सुरक्षा के लिए बाढ़ और रजवाहों की व्यवस्था की है ताकि पहाड़ों से लाई गाद, मिट्टी और रज नदी के पेट को भरने के बजाय मैदानों में फैल जाए और नदियां अविरल बनी रहें। जिसे भी मृदा विज्ञान (सोयल साईंस) का थोड़ा ज्ञान है, वह जानता है कि बाढ़ नियंत्रण औपनिवेशिक मुहावरा है। उस युग का वैष्णव जन इस बाढ़ नियंत्रण की हिंसा से अवगत था। यह समस्त साईंस भारतीय पुरुषार्थ के धर्म, अर्थ, काम (कामना) और मोक्ष सबको नष्ट करने वाली है।

नदियां मर चुकीं

आज दिल्ली वासियों को यह याद दिलाना लगभग असंभव है कि दो तीन—चार पीढ़ी पूर्व तक दिल्ली वासी अपनी रोजमर्रा की आवश्यकता का पानी नियमित रूप से यमुना जी से भर कर लाते थे या इन्ही नालों में प्रवाहित निर्मल

जल का प्रयोग करते थे जो आज गंदे हो गये हैं। दिल्ली शहर में कुंओं—बावड़ियों का पानी दोगुना माना जाता था। 1950 के आसपास तक दिल्ली शहर की खत्रानियां, बनैनियां, बामनी आदि नियमित रूप से टोलियों में इकट्ठी होकर रामजस गाती यमुना जी नहाने जातीं और रसोई के लिए आवश्यक एक—दो मटकी पानी लेकर सूर्योदय से पूर्व ही 'हरिजस' गातीं वापिस लौटतीं देखी जा सकती थीं।

ताजे बहते पानी के प्रयोग की विधि और परंपरा कब, क्यों और कैसे समाप्त हो गयी इसका न तो हमारे समाजशास्त्रियों को एहसास है, ना ही स्वास्थ्य शास्त्रियों ने यह जानने का प्रयास किया कि दिल्ली शहर के जन स्वास्थ्य पर इस बुनियादी परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ा है। नदियों का प्रदूषण हिन्दुस्तानी विकास और आधुनिकीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतीक है। नदियों के निर्मलीकरण का आंदोलन चलेगा तो स्वदेशी भी चलेगा। स्वदेशी के लिए पवित्र जल और निर्मल मानस आवश्यक है।

विकासवादी आधुनिक हिन्दू 'विकास' के लिए परम पावन गंगा को इस कदर दूषित कर सकता है कि उसके दर्शन मात्र से घिन की सिहरन मन और शरीर में दौड़ जाती है। दिल्ली, वृन्दावन की यमुना और काशी की गंगा आज किसी गटर से भी ज्यादा गंदी और प्रदूषित हैं।

गंदे नाले

नदी नालों की गंदगी का सिलसिला बस उतना ही पुराना है जितना हिन्दू की आधुनिकता और ब्रिटिश गुलामी का इतिहास। दिल्ली के प्राकृतिक जल बहाव को गंदे नालों में परिवर्तित करने का काम 1857 के बाद ही शुरू हुआ।

उत्तर भारत में स्वच्छ जल के प्राकृतिक/कृत्रिम एवं स्थायी अथवा अस्थायी बहाव के स्थायी मार्ग/प्रवाह का अनेक में से एक नामकरण नला/नाला था। 1857 के आसपास तक दिल्ली में लगभग एक दर्जन नाले थे जो अरावली की पहाड़ियों से बरसात का पानी यमुना तक पहुंचाते थे और समस्त दिल्ली को भूजल से प्लावित रखते; असंख्य कुओं, बावड़ियों और तालाबों को जलापूर्ति करते। आज ये सभी नाले गंदगी और शहरी प्रदूषण के प्रतीक हैं और कहलाते भी गंदे नाले हैं। समूचे देश का कोई छोटा—बड़ा शहर ऐसा नहीं, जहां पाखाने और गटर का पानी सड़क, आम रास्तों पर न फैल रहा हो। गांव की हालत तो और भी बदतर है।

पवित्र—पावन नदियों के प्रदूषण के सामने नालों की विकृति तो मामूली बात है। आज तो देश की समस्त नदियां सिर्फ गंदगी का वाहक बन कर रह गयी हैं। पवित्र—पावन गंगा भी हमारी गंदगी का प्रतीक बन गयी है। देश में छोटी—बड़ी बस्तियों की समस्त गंदगी को नदियों में ही प्रवाहित किया जा रहा है। देश भर के शहरों में सड़कों पर फैली संडास, रेल पटरी के सहारे खुले दिशा मैदान (ओपन एयर लैटरिन) और मूत्रालयों की दुर्गंध ही हमारी आधुनिकता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीक है।

वायु प्रदूषण

बड़े शहरों में वायु प्रदूषण का भी अंत नहीं। दिल्ली, कलकत्ता, मुंबई में तो एक झोंका स्वच्छ हवा पाने के लिए शहर से पचासों मील दूर जाना पड़ता है। भारतीय मानस किस कदर सड़ चुका है, इसका अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि दुर्गंध की समस्या के निराकरण के लिए विचार तक न होने पर कहीं कोई चिंता नहीं है। स्थानीय म्यूनिसिपल कमेटियों से लेकर राष्ट्रीय संसद तक इस विषय पर कोई बहस नहीं है, कोई आधा—अधूरा प्रस्ताव भी नहीं है। बच्चों की स्कूली किताबों में सही समझ विकसित करता कोई अध्याय नहीं है।

आधुनिक भारतीय मानस की कंगाली का यह असाधारण उदाहरण है। नदियों के प्रदूषण का सीधा रिश्ता भूजल की उपलब्धता और कृषि योग्य भूमि की सजलता से है। डेल्टा क्षेत्रों के सर्वनाश की गाथा इस कड़ी का अंतिम छोर नहीं, समुद्री संसाधनों का सर्वनाश भी इसमें शामिल है।

7. नदी—जोड़ो योजना उलटी समझ

नदी—जोड़ो योजना की जोरदार चर्चा पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी और तत्कालीन साईटिस्ट राष्ट्रपति माननीय अब्दुल कलाम के समय शुरू हुई और कई निर्णय भी लिये गये। यहां दिये गये तथ्य उसी समय के हैं। आज की क्या स्थिति है, यह समझना चाहिए।

नदी—जोड़ो योजना की प्रस्तावित या अनुमानित लागत 56 खरब आंकी गई थी, वह योजना पूरी होते—होते 300 खरब तक पहुंच जाएगी। यह तथ्य पिछले पचास बरस के अनुभव पर आधारित हैं। इस कुल व्यय में से पांच—दस खरब रुपया उन राजनेताओं, नौकरशाहों और साईटिस्टों को मिल जाएगा, जो इस योजना को लागू करवाने में सहयोग कर रहे हैं। यह मामूली दलाली नहीं है। यह दलाली दो अरब डालर से ऊपर बैठती है किंतु हिंदुस्तान की ज़मीन और तहज़ीब को गिरवी रखने के लिए यह रकम सचमुच बहुत छोटी है। यह एक ऐसी योजना है जिस पर साईटिफिक समाजवादी, अन्य इहलोकवादी, तरह—तरह के अनुदारवादी और नव हिंदुत्ववादी सभी एकमत हैं। कहीं कोई मतभेद नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार के सभी सदस्य संगठन संकल्प बद्ध हैं कि वह इस योजना को टिहरी बांध की तरह सफल बनाएंगे।

आधुनिक साईसवादियों में एक तबका सुधारवादियों का है। उनका विश्वास है कि साईस का दुरुपयोग, व्यक्तिवादी विकृति है और सच्ची साईस के प्रचार—प्रसार से इसमें सुधार किया जा सकता है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि साईस की समस्याएं साईस स्वयं दुरुस्त करेगी। इस मुद्दे पर विचार से पहले इस योजना की कुछ विशेषताओं को सूचीबद्ध करने का प्रयास करना होगा।

1. इस नदी जोड़ो योजना का प्रारूप वर्तमान में किसी भारतीय इंजीनियर या तकनीकी आयोग द्वारा प्रस्तावित नहीं किया गया है।

2. सन् 1990—91 तक इस संदर्भ में जो छिटपुट योजनाएं;

जैसे— गंगा—कावेरी लिंक प्रस्तावित की गई वे विशिष्ट समितियों द्वारा खारिज करार दी गई थीं। उसके बावजूद जलधाराओं के विनाश की इस योजना का जारी रहना अनेक आशंकाओं को जन्म देती है।

3. एकाध नदी पर बांध बनाने की योजनाएं तो 150 बरस से बन रही हैं और लागू भी की जा रही हैं लेकिन समस्त जलधाराओं के विनाश की योजना पहली बार प्रस्तावित हुई है और बिना किसी पूर्व चेतावनी के आनन—फानन में लागू कर दी गई। इससे तो यह आशंका बलवती होती है कि सरकारी कामों में चर्चित डबल पेंमेंट या उससे भी अधिक के किसी षडयंत्र को साकार करने का केवल बहाना ही तो नहीं है।

4. देश के तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने अचानक योजना को कार्यान्वित करने की घोषणा की और बिना किसी प्रारूप के इस पर नई विश्व व्यवस्था के अनुरूप काम शुरू करवा दिया।

5. भारत सरकार—प्रशासन का कोई विभाग यह बताने में असमर्थ है कि प्रधानमंत्री को यह योजना किसने सुझाई और 56 खरब की अनुमानित लागत का ब्यौरा क्या है और यह अनुमान किस विभाग या किस संस्था ने बनाया है।

6. केन्द्रीय विद्युत प्राधिकरण (विद्युत योजनाओं के संबंध में नीति बनाने वाला विभाग) को आज तक यह संज्ञान नहीं है कि इस योजना में कितनी बिजली लगेगी और कितनी बनेगी। विद्युत विभाग की तो मामूली बात है, योजना आयोग को भी इस योजना की कोई जानकारी नहीं है। अब प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के शासन में योजना आयोग की जगह नीति आयोग गठित किया गया। इतनी सूझ—बूझ की अपेक्षा नव प्रधानमंत्री से है कि वे इस नदी जोड़ो योजना का नीति आयोग से विधिवत निरीक्षण अवश्य करवा लेंगे और यह अपेक्षा भी अनुचित नहीं कि 'नीति आयोग' ने नीति विचार, नीति संवाद, नीति निष्कर्ष की कोई विधि, प्रणाली नियत कर ली होगी।

7. योजना के मूल प्रेरणा स्रोत तत्कालीन प्रधानमंत्री हैं। योजना को पूर्व साईंटिस्ट राष्ट्रपति अबुल कलाम का आशीर्वाद है। संभवतः योजना

के किसी प्रारूप की जानकारी उन्हें भी नहीं है क्योंकि आज तक ऐसा विधिवत प्रारूप बनाया ही नहीं गया। साईंस के सपने उसकी नैतिकता से सम्बद्ध होते हैं या नहीं? साईंस और साईंसनिष्ठ विकास का कोई इतिहास है या नहीं? साईंस्टिस्ट राष्ट्रपति को उस इतिहास का ज्ञान है या नहीं? आज के माहौल में यह संभव है कि योजना के सम्बन्ध में ऐसे प्रश्नों को प्रजातंत्र और संवैधानिक पद की अवमानना ही माना जाएगा।

8. योजना का संचालन प्रधानमंत्री कार्यालय कर रहा है। योजना की क्रियान्विती में अन्य किसी मंत्रालय की कोई भागीदारी नहीं है। विशेष टास्क फोर्स यानी विशेष कार्य समूह बनाया गया है। कार्य समूह के नेता को मंत्रीपद का दर्जा हासिल है लेकिन निर्णय इत्यादि में संपूर्ण जिम्मेदारी, जवाबदारी प्रधानमंत्री कार्यालय की है (संभवत यह व्यवस्था मोदी राज में यथावत जारी है)।

इस कार्य प्रणाली/संस्कृति के तहत कार्य समूह/गुट प्रधानमंत्री कार्यालय द्वारा जारी किए गए आदेशों का अनुपालना करेगा और मध्यस्थ-अभिकरण की तरह आदेशित योजनाओं को प्रस्तुत भी करेगा और प्रधानमंत्री के आदेशानुसार राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय ठेकेदारों को काम आवंटित करेगा। यही गिरोह/नेता प्रदेश सरकारों से संवाद-समझौता भी करेगा।

9. योजना पर राष्ट्रीय सहमति का काम योजना लागू होने के बाद शुरू किया जाएगा। यानी विशाल बांध तो हर प्रांत स्वेच्छा से बंधवा लेगा, चाहे उसके बाद, जल के बंटवारे पर सहमति हो या न हो क्योंकि इस संदर्भ में कोई सहज सिद्धान्त या प्राकृतिक व्यवस्था तो उपलब्ध है नहीं। स्वाभाविक है कि एक नदी घाटी से दूसरी नदी घाटी में जलान्तरण के नियम नहीं बनाए जा सकते। केवल पानी का मूल्य तथा जलान्तरण की लागत निर्धारित की जा सकती है।

10. योजना का कोई सुनिश्चित नक्शा आज उपलब्ध नहीं लेकिन जिन जल विशेषज्ञों ने पिछले 40 बरसों में पी.ई. दस्तूर साहब की माला नहर (गारलैंड कैनाल) और के. एल. राव की गंगा-कावेरी लिंक योजना को समझने का प्रयास किया है, उनका अनुमान है कि अब यदि

परिवर्तित विशाल महत्त्वोन्मादी योजना यदि अंततः आधी-अधूरी भी लागू हो गई तो न्यूनतम तीस लाख परिवारों को उजाड़ना होगा।

11. योजना का केवल सूक्ष्मांश मानव श्रम पर व्यय होगा क्योंकि संपूर्ण योजना आधुनिकतम तंत्र, यंत्र और मंत्र प्रणाली से निर्मित की जाएगी ताकि संपूर्ण योजना को पंद्रह बरस से काफी कम समय में पूरा कर लिया जाए। 'योजना' कितनी अवास्तविक थी, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि आज वर्तमान (2015) में योजना की घोषणा को 15 बरस हो चुके हैं, डेढ़-दो हजार करोड़ रुपया व्यय भी हो चुका है फिर भी पूरी योजना हवा में ही है।

12. विस्थापितों या अन्य योजना-प्रभावित पीड़ितों को किसी भी तरह की कानूनी राहत की सुविधा उपलब्ध नहीं होगी चूंकि योजना सुप्रीम कोर्ट के निर्देश के अंतर्गत राष्ट्रीय-अनिवार्य जन हित में लागू की जा रही है। इसलिए योजना तो लागू ही होनी है।

यह सहज स्पष्ट है कि इस योजना की विशिष्टताओं की सूची हनुमान जी की पूंछ की तरह विशाल है और इसीलिए योजना की पूर्ण निर्मिति-समाप्ति तक इस योजना का प्रारूप या उसके प्रभाव या हानि-लाभ का लेखा प्रस्तुत नहीं किया जाएगा। सुप्रीम कोर्ट का आदेश स्पष्ट है- योजना का लोकहित में लागू किया जाना अनिवार्य है। मुझे यह आशंका है कि सुप्रीम कोर्ट ने इस बिंदु पर सरकारी पक्ष के अतिरिक्त अन्य विशेषज्ञों से राय ली भी या नहीं, और कहीं अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जा कर तो काम नहीं किया है ?

पूर्णतः नैतिक और कानूनी घोषित हो जाने पर यह योजना ठीक उसी तरह लागू की जाएगी जैसे कि 'विश्व शांति के हित' में इराक के विरुद्ध युद्ध किया गया। इराक की और हमारी परिस्थिति में एक महत्त्वपूर्ण भेद या अंतर यह होगा कि भारत की बर्बादी की योजना बनाने, प्रस्तावित करने आदि का श्रेय पूर्णतः स्वदेशी होगा, केवल योजना के निर्माणकर्ता बहुराष्ट्रीय संस्थान होंगे। यानी जो उधार उपलब्ध कराया जाएगा, उसमें सिर्फ दलाली हमें मिलेगी या हमारे खाते में अमेरिका और स्विटजरलैंड आदि में जमा करवा दी

जाएगी। बाहरी तौर पर सारा काम वैसी ही सुरुचिपूर्ण कार्य संस्कृति से होगा जैसे कि दिल्ली मेट्रो का चल रहा है। जो ज़मीन उपलब्ध करायी गई है, वह और उस समस्त मेट्रो संपत्ति पर कब्जा उन विदेशी संस्थाओं का होगा, जिनने इस मेट्रो का निर्माण किया है या पैसा उधार दिया है। भारत देश की नदियों पर जो विशाल जलाशय बनेंगे उनकी मालिकी उन्हीं संस्थाओं की होगी, जो उनकी लागत का ऋण उपलब्ध करा रही हैं या कराएंगी।

कृषि के लिए कोई लिफ्ट कैनल आज तक सफल नहीं हुई किन्तु शहरी जलापूर्ति के लिए इस तरह की योजनाओं का छोटा-मोटा उपयोग हो ही जाता है। वैसी ही सफलता इस योजना की भी होगी।

हिंदुस्तान में दो-चार नहीं दस-बीस हजार लौकिक विद्वान आज अवश्य मौजूद हैं, जो इस 'उन्मादी महत्वाकांक्षा' के हानि-लाभ की विस्तृत एवं सटीक व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं, कर भी रहे हैं। कोसी, नर्मदा, टिहरी, भाखरा-नंगल, दामोदर घाटी, सोन-पम्प नहर और इन सबसे सौ सवा सौ बरस पहले निर्मित केनल कालोनीज़, जैसे- स्यालकोट, मोन्टागोमरी, और दूर न जाएं, गंगा-यमुना के नहरी क्षेत्र का ही अध्ययन देख लें। विश्वभर में सैकड़ों अनुभवों की विस्तृत एवं अधिकृत रपटें उपलब्ध हैं और देखी जा सकती हैं। जिस टैनिसी वैली विकास परियोजना के आधार पर समस्त विश्व में 'नहरी आधुनिक पूंजीवादी कृषि तथा जल-विद्युत-उद्योग' की परंपरा का विकास हुआ, वे सभी योजनाएं खारिज की जा चुकी हैं। एक दशक से तो टैनिसी वैली योजना को उखाड़ने की तकनीकी तजबीज पर काम भी हो रहा है। अलवर जिले में 1992 की बाढ़ का प्रोफेसर गुरुदास अग्रवाल का अध्ययन उपलब्ध है लेकिन उन्हीं के गुरु डा. सिंह का कहना है कोई वैज्ञानिक-इंजीनियर बांधों का विरोध कैसे कर सकता है?

विकल्प के संदर्भ में सवाल उठता है तो भाई अनुपम मिश्र की पुस्तक 'आज भी खरे हैं तालाब' के साथ-साथ मैगसैसे एवार्डी राजेन्द्र सिंह और उनके संगठन-तरुण भारत संघ-द्वारा राजस्थान के सरिस्का और थाना गाजी क्षेत्र में किया गया प्रयोग और उसकी सफलता हमारे सामने है। हिमालय में भारती के दूधातोली प्रयोग की सफलता भी असाधारण है।

विचारणीय मुद्दा यह है कि इन प्रयोगों और समस्त आंदोलनों की सम्मिलित ऊर्जा आज तक के संदर्भ में आवश्यक सुधार के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुई है। पहला महत्त्वपूर्ण तथ्य यही है कि हम ठीक से यह जान लें, समझ लें, विचार विमर्श कर लें कि बांध-नहर, जल-विद्युत और नहरी खेती की बाढ़ को रोकने के लिए हमारे अभी तक के आधुनिक लौकिकतावादी प्रयास अत्यंत अल्प एवं अपर्याप्त क्यों हैं?

सन् 1850 के आसपास तक दिल्ली क्षेत्र में अरावली शृंखला के पूर्व में माल रोड के सिरे से तुग़लकाबाद छोर तक लगभग डेढ़ दर्जन सरस्वतियां प्रवाहित होती थीं। ये कहां लुप्त हो गई? पश्चिमी ढाल का पानी भी शायद नजफगढ़ धारा से दिल्ली पहुंचता था। इस सब पानी का अब क्या होता है? गंगा-यमुना का तो अस्तित्व ही नहीं बचा। सवाल यही है कि साईंसनिष्ठ सुधार वादियों को इस इतिहास की समझ क्यों नहीं है? इन ऐतिहासिक समस्याओं के कारण-निवारण का सिद्धान्त कैसे और किन मान्यताओं के आधार पर विकसित होगा? इस प्रश्न का उत्तर तो देना ही पड़ेगा कि हिमालय और गंगा के सूखने का आधुनिक साईंस से सम्बन्ध है या नहीं?

साईंस की विकास धारा में सुधार का आंदोलन 100 बरस पुराना तो जरूर है लेकिन यह तथ्य तो सिरे से भुला दिया गया है कि दिल्ली की 18 नदियां और 18000 कुएं, बावडियां, ताल, तलैया कब और कहां लुप्त हो गए? साईंस का विचार शुद्ध ज्ञान की पद्धति है या सपनों की भूल-भुलैया, जिसमें गंगा, जमुना जैसी विशाल नदियों के खो जाने की भनक भी सुनाई नहीं पड़ी। भूल का मूल इसी तत्त्व में निहित है कि साईंस प्रचुरता से बहुत अधिक उत्पादकता (**Promise of more than plenty**) के वायदे पर टिकी है। साईंस के इस वायदे का सत्य परखा जाएगा तो साइन्स और आधुनिकता का आधार ही खिसक जाएगा, क्योंकि मानवता तो न्याय के सिद्धान्त पर खड़ी होती है और साइन्सनिष्ठ आधुनिकता का न्याय तो प्रचुरता के वायदे में समाहित है, उसकी अन्य कोई नैतिकता नहीं है। एटम बम का निर्माण इस सत्य का प्रमाण है।

दिल्ली में 25 से 40 इंच (600 मि.मि. से 1000 मि.मि.) बरसात होती है। दिल्ली-अरावली का क्षेत्रफल 100 वर्ग किलोमीटर के लगभग है। इस

विशाल स्रोत के सूख जाने का कोई वैचारिक धरातल है या नहीं? इसलिए पहला कदम यही है कि लौकिकतावादी साईंटिफिक परंपरा का व्यापक विस्तार हो। इस सुझाव का गंभीरता से अध्ययन करना होगा कि वैदिक विज्ञानवादी परंपरा, जिसकी छिटपुट चर्चा इस पुस्तक में की गई है को एक नई, स्वदेशी आधुनिकता का आधार बनाया जा सकता है या नहीं? एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय मुद्दा यह भी है कि क्या हम लोक विवेक आधारित संस्कारनिष्ठ विज्ञान की मान्यताओं (रूढि इत्यादि) से जुड़े बिना इस देश की बहुतायत आबादी से संवाद कर सकेंगे ?

इससे आगे बढ़ कर इस मुद्दे पर भी विमर्श खड़ा करना होगा कि हिंदी, हिंद, हिंदू की विशाल, विस्तृत और लंबी परंपरा में आध्यात्मिक चेतना शक्ति, भक्ति, प्रेम, आध्यात्मिक विद्रोह, सर्वधर्म समान भावना, सत्याग्रह, असहयोग, स्वदेशी आंदोलनों की संस्थाएं, जो सदैव से उपलब्ध हैं, उनका वर्तमान परिस्थिति में उपयोग और विस्तार संभव है या नहीं?

8. हरित क्रांति

आखिर क्या वजह है कि हम साईंस और नव-साम्राज्यवाद के रिश्तों को देखने या समझने के लिए मानसिक रूप से तैयार ही नहीं हैं। आखिर पिछले 100-150 बरसों में हमें हुआ क्या है कि हम अपनी समस्याओं को लगातार सीमित दायरों में बांध कर उनके निराकरण के विशेषज्ञ बनते जा रहे हैं। वैश्वीकरण यानी नव साम्राज्यवाद के युग में हमें हमारी समस्याओं के पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई पड़ने लगातार बंद हो रहे हैं।

हमने जो कुछ ऊपर कहा, उसका एक विपरीत तथ्य यह तो अवश्य है कि जब फिरंगियों का इस मुल्क पर कब्जा हो गया, तो उसने अच्छी तरह से जांच-परख कर यह जान लिया कि उन्नत खेती का विज्ञान इसी देश से सीखना होगा। तभी इस नीति का निर्माण हुआ कि इस देश के उद्योग-धंधों को चौपट कर दो और चर्मकार, सुथार, लुहार, कुम्हार, सुनार, बुनकर, अन्य शिल्पकार सभी को मुफलिस बना कर छोड़ दो, वह स्वतः खेतिहर मजदूर बन जाएंगे। यही वह युग था जब भू-बंदोबस्त में जमीनदारी, जागीरदारी, रैयतवाड़ी महालवाड़ी व्यवस्थाओं का औपनिवेशिक रूप गढ़ा गया और हिन्दुस्तान को कृषि प्रधान देश घोषित कर दिया गया। इसी परिवर्तन का यह नतीजा था और है कि 19वीं-20वीं सदी में न्यूनतम 20 करोड़ हिन्दुस्तानी लोग भुखमरी लाचारी, बीमारी, मुफलिसी और जिल्लत का शिकार हो गये। अकाल, सूखा, बरसात की समझ में ही आमूलचूल परिवर्तन हो गया।

सरकार द्वारा आयोजित अकाल राहत कार्य सूखे से मुक्ति का इलाज नहीं है। गुलाम मानसिकता ने जो वैचारिक सूखा निर्मित कर दिया है, उससे मुक्ति अनिवार्य है। जब तक हम उस आत्म छवि से मुक्त नहीं हो सकते, जो गोरे महाराजा ने हम पर थोप दी है, तब तक न तो अकाल का आक्लन कर सकते हैं और न ही उसके निराकरण का रास्ता खोज सकते हैं।

सन् 1949-50 में मैं दर्जे पांच का छात्र था। वही समय था जब फोर्ड फाउन्डेशन के सौजन्य से अमेरिकी विशेषज्ञों ने हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का ढांचा निर्धारित किया। हमें विद्युत ऊर्जा से रेल चलानी सिखाई। दामोदर

नदी घाटी की पनबिजली योजना के फेल हो जाने पर वहां भाप-विद्युत-उद्योग का रास्ता दिखाया। यह सिद्धान्त प्रतिपादित करके सिखाया कि साइन्स द्वारा पैदा की गई समस्याओं का समाधान साइन्स ही कर सकती है। इसमें ज़रा भी आश्चर्य नहीं कि हमारे देश की बहुतांश सियासी ताकतें और लगभग समूचा 'शिक्षित' वर्ग गोरे फिरंगी की गुलामी में अपने आप को धन्य समझता है।

हिंदुस्तानी अजूबे के एक पहलू को अमेरिकी कृषि साइंटिस्टों ने किसी हद तक पहचान लिया है। अनेक आधुनिक विशेषज्ञों का मानना है कि हिंदुस्तान की नदी घाटियों में, वादियों और चरागाहों में अकूत खाद्य पदार्थ, डेरी उत्पादन, एवं जीवनोपयोगी वस्तुएं जैसे कपड़ा, कागज, लकड़ी, घास, मिट्टी से बनायी उपयोगी वस्तुएं पैदा की जा सकती हैं। पिछली सदी के छठे-सातवें दशक में तीन पश्चिमी विशेषज्ञों – डा. पी. बर्रिंग (Dr. P. Burring) डा. एच.डी. वान हीमस्ट (Dr. H.D. Van Heemst) एवं डा. जी.जे. स्टारिंग (Dr. G.J. Staring) ने अलग-अलग यह अनुमान लगाया था कि भारत की उत्पादकता लगभग 300-400 करोड़ टन अन्न के समकक्ष है। यानी अकेला हिंदुस्तान पूरी दुनिया के लिए पर्याप्त एवं उत्तम गुणों के खाद्यान्न की पूर्ति कर सकता है।

तीन अंतर्राष्ट्रीय कृषि विशेषज्ञों ने जो कुछ प्रस्तावित किया था उसका अर्थ ग्रहण करने में हमारे कृषि साइंटिस्ट को लंबा समय लग रहा है। जिस विशाल अन्न भंडार की चर्चा हम कर रहे हैं वह मूलतः भारत के पारंपरिक कृषि विज्ञान से ही संभव हो सकेगा, न कि उस हरित क्रांति के माध्यम से, जिसे हमने तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के नेतृत्व में मूलतः अमेरिका से आयात किया था।

उस हरित क्रांति के तीन प्रमुख घटक थे :

1. अमेरिकी कृषि वैज्ञानिक नॉरमन बोरलाग (Normal Borlaug) द्वारा विकसित संकर बीज, जिसे हाई ईल्लिंग वैराइटी (HYV) कहा जाता है।

2. **HYV** –संकर बीज की कृषि को बचाने के लिए बड़े पैमाने पर रासायनिक खाद, कृमि नाशक, खरपतवार नाशक, जैव नाशक आदि की आवश्यकता होती है तथा उन्नत कृषि के लिए रासायनिक खाद का प्रयोग करना अनिवार्य होता है।

3. रासायनिक खाद चूंकि आवश्यक होती है, इसलिए आरक्षित सिंचाई अनिवार्य शर्त है।

संकर बीज कृषि का एक परिणाम यह होता है कि भूसे की मात्रा आधी—तिहाई—चौथाई रह जाती है, पशु पालन कम होने लगता है।

संकर बीज कृषि के प्रभाव और परिणाम की परवाह किए बिना 'हरित क्रान्ति' को सफल बनाने की प्रक्रिया में जुट गया। यह तथ्य पूर्णतया दृष्टि ओझल हो गया कि अन्न उत्पादन के क्षेत्र में आत्म निर्भर बनने का मूल उद्देश्य सर्वथा गौण हो गया।

कुल मिलाकर रासायनिक कृषि की साइंस और तकनीकी के लिए देश विदेशी सहायता पर—निर्भर हो गया। लेकिन उस विश्लेषण से पहले यह तथ्य स्पष्ट करना आवश्यक है कि कृषि के क्षेत्र में बीसवीं सदी में जो साइंटिस्ट तकनीशियन विकसित हुए थे, वे देशज कृषि के इतिहास—विज्ञान आदि से लगभग बेखबर थे। इसलिए प्रभाव और परिणाम के बारे में बिना कुछ विचारे इंदिरा गांधी के सुझाए मार्ग पर चल पड़े।

देश के भीतर कृषि साइंस और तकनीकी का नेतृत्व एम. एस. स्वामीनाथन कर रहे थे। तब से आज तक यह प्रश्न ही नहीं पूछा गया कि हरित क्रान्ति की मूल प्रेरणा और वित्तीय सहयोग का स्रोत कहां स्थित था ?

हमारे नीति निर्धारकों को संभवतः आज भी यह अनुमान नहीं है कि पी. एल. 480 का क्या समझौता था और उस नाते जो पैसा अमेरिकी खाते में तेजी से बढ़ रहा था, उसका क्या परिणाम और प्रभाव हो रहा था। इस विषय पर कोई साधारण अध्ययन या सरकारी—स्पष्टीकरण (**White paper**)

उपलब्ध नहीं है कि अमेरिका PL-480 की निधि का क्या और कैसा उपयोग—उपभोग कर रहा था। 1962 के चीनी—युद्ध के बाद सुरक्षा के क्षेत्र में अमेरिकी हस्तक्षेप भी बहुत तेजी से बढ़ा था। उस दौर में अमेरिका का विरोध भी तेजी से बढ़ रहा था। प्रत्युत्तर में सोवियत 'सहयोग' का तेजी से विस्तार हो रहा था।

उस अशांत वातावरण में PL-480 की अन्न सहायता के स्थान पर आत्म निर्भरता का नारा अत्यंत आकर्षक था। 'हरित क्रान्ति' की सफलता के संदर्भ में दो तथ्य बेबाक सत्य हैं कि वित्तीय सहयोग का आधार PL-480 की निधि थी और समस्त साईंस और तकनीकी सहयोग अमेरिका से आयात किया गया था। यह निर्भरता आज तलक जस की तस जारी है।

वास्तव में 1964 से 1967 तक जो अन्न के अभाव का दौर देश ने देखा, वह एक असाधारण अनुभव था। देश को आज़ाद हुए 18—19 बरस हो चुके थे। शासन की बागडोर पूरी तरह से उस हुक्मशाही के पास थी, जिसे ब्रिटिश हकूमत ने औपनिवेशिक शासन के लिए प्रशिक्षित किया था। किसी भी समस्या का समाधान हमें सूझ ही नहीं रहा था।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान जो अन्न संकट उत्पन्न हुआ था उसका छिटपुट समाधान खाद्यान्न मंत्री रफी अहमद किदवई (1953—1955) के दौर में हुआ था। लेकिन मूल समस्या जस की तस मौजूद थी।

लोहिया समाजवादियों को छोड़ कर देश का समूचा वाम पंथ इंदिरा गांधी के साथ खड़ा था। दक्षिण पंथ भी सहयोगी की भूमिका में था मगर अमेरिकी निर्देशन के अनुसार। हम उस दौर की राजनीति का विश्लेषण प्रस्तुत नहीं कर रहे केवल उस वातावरण को समझने का प्रयास कर रहे हैं जिसमें 'हरित क्रान्ति' का नारा यकायक सफल हो गया और डूबते राष्ट्र को सम्बल मिल गया।

हरित क्रान्ति के अनेक नतीजे/प्रभाव और परिणाम हुए हैं इनमें से कुछ ही का भान है किन्तु कुल प्रभाव से हम लगभग अनभिज्ञ हैं। हरित क्रान्ति

के कुल फलित का विधिवत विश्लेषण अभी आरम्भ ही नहीं हुआ है। कहना मुश्किल है कि ऐसा कभी संभव होगा या नहीं।

पहले यह जान लें कि सकारात्मक प्रभाव का चमत्कार एक विलक्षण अनुभव है। यदि हरित क्रांति सफल न हुई होती तो 1970 से 2010 के बीच साठ करोड़ निर्धन भारतीय अन्नाभाव के चलते भुखमरी का शिकार हो जाते।

इसके विपरीत एक सत्य जो लाख छिपाए नहीं छिप रहा है, न छिपाया जा सकता है वह है किसानों की आत्महत्या—हजारों नहीं लाखों की संख्या में। बड़े पैमाने पर हत्या और आत्महत्या तो उजागर है लेकिन इसका कारण संबंध आज भी दृष्टि ओझल है।

ऐसे अनेक प्रभाव फलित हैं, जो दिखाई तो देते हैं किन्तु समझ नहीं आते। हरित क्रांति के चलते अन्न—जल बड़े पैमाने पर विषाक्त हो चुका है। भारतीय कृषि में गौपालन की शाश्वत परम्परा पूरी तरह से टूट चुकी है।

मानव उपभोग के लायक निर्मल जल की उपलब्धता निरन्तर घट रही है। 'निर्मल गंगा' के विषय पर कितना सा संवाद पिछले 30 बरसों में विकसित हुआ है उसमें न तो रासायनिक कृषि का संदर्भ है और न ही लोक स्वास्थ्य का मुद्दा।

पिछले 40 बरसों में नदियां गंदे नाले बन गईं; कुएं, तालाब, बावड़ी तक का जल प्रदूषित हो गया। लेकिन इस संदर्भ में समस्त सूझ-बूझ वहीं तक सीमित है जहां तक विश्व-बैंक / फोर्ड फाउंडेशन फंडिंग आज्ञा देती है।

हरित क्रांति से किसी तरह अगले बीस बरसों में हिंदी किसान ने स्वयंमेव भारतीय पारंपरिक कृषि के प्रयोग शुरू किए हैं। आज (1998) किसान नेता चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत के घर खेती के लिए एक दर्जन से ज्यादा गाय-बैल मौजूद हैं। ट्रैक्टर का उपयोग यातायात के साधन तक सीमित है। गंगा जमुना के दोआब में तो अनेक छोटे-बड़े किसानों को यह तथ्य दिखाई देने लगा है कि गन्ना और चावल की खेती लाभ का धंधा नहीं है। आज देश भर में हजारों लाखों किसान निजी स्तर पर तरह-तरह के

प्रयोग कर रहे हैं लेकिन इन पचास बरसों में हमारे देश का शहरी शिक्षित तबका, अग्रणी समाज नेता, राजनीतिज्ञ, नौकरशाह, आधुनिक साईंटिस्ट, टेक्नोक्रेट आदि पश्चिमी सभ्यता के गुलाम बन गए हैं। देश में संपूर्ण रोजगार नहीं होगा तो जनता को बहलाने के लिए 'नदियों को जोड़ने' जैसे झुनझुने दिखाने ही पड़ेंगे। इस संदर्भ में विशेष महत्व का विषय है—प्रो. एम. एस. स्वामीनाथन का द्वितीय हरित क्रांति का प्रस्ताव। इस तथ्य का अनुमान तो नहीं है कि स्वामीनाथन को प्रथम हरित क्रांति की सफलता के लिए गौरव की भावना है या आत्म-ग्लानि का भाव। इस विश्लेषण में हम यह दावा कर सकते हैं कि भारत भूमि पर एक ऐसा कृषि साईंटिस्ट है, जो सरकारी सेवा से मुक्त होने के बाद कृषि वैज्ञानिक बनने का प्रयास कर रहा है। हमारी एक मात्र आशा का स्रोत हमारे हुकमशाहों की सेवा मुक्ति के बाद जागृत होने वाला विवेक है। ईश्वर से प्रार्थना है कि सेवा मुक्त राजनेताओं में भी ऐसी सदबुद्धि का अंकुरण हो।

गौर तलब परिस्थिति है कि गंगा जमना का दोआब दुनियां की सर्वोत्तम ज़मीन है। इस क्षेत्र का किसान पिछले 200 बरस से दरिद्रता के दुश्चक्र में उलझता जा रहा है। महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में इस क्षेत्र का किसान पिछले तीस बरस से, अब तक लगातार गुहार कर रहा है कि उसकी समस्याओं को समझने और निराकरण का प्रयास किया जाए लेकिन हमारे पास कोई समझ आज उपलब्ध नहीं है कि आधुनिक या साईंटिफिक कृषि के विकास के साथ-साथ अलाभकर जोत का विकास क्यों हो रहा है? किसान की समस्याओं को समझे बिना तो पानी पर कोई संवाद संभव दिखाई नहीं पड़ता। संकर बीज + रासायनिक खाद आदि+ नहर+ट्रैक्टर हरित क्रान्ति के विशिष्ट/संयुक्त प्रभावों का अध्ययन किसानों के अनुभव से सीखना होगा। उनके सुख-दुःख से जुड़ कर ही उस सत्य को तलाशना होगा, जिसके आधार पर भारत सरकार की सन्मति की राह चलने की सदबुद्धि जागृत की जा सकेगी।

9. जल कौशल

समाजवादी चिन्तक डॉ. राम मनोहर लोहिया का लिखा एक यात्रा विवरण है। वे दक्षिण भारत की किसी नदी में स्नान कर रहे थे। वहाँ किसी नाविक या मछुवारे ने उनसे पूछ लिया—बाबू आपका मुलुक किस नदी के किनारे है? अत्यंत वाक्पटु नेता हतप्रभ रह गया था। कुछ चिन्तन—विमर्श के बाद उत्तर दिया था : सरयु का पुत्र हूँ।

नाविक ने लौट कर कहा अच्छा! राजा रामचन्द्र के गांव के हो!

लोहिया ने लिखा है—मैं मुस्कुरा कर रह गया— कुछ भी कहने में असमर्थ था।

इस घटना से पहले लोहिया अपनी क्या पहचान मानते थे, उसका हमें कोई अनुमान नहीं है। लेकिन इस तथ्य से अवश्य अवगत हूँ कि ऊपर लिखे विवरण के बाद वह अपनी यह पहचान कभी नहीं भूले कि वे 'सरयू के पुत्र' हैं।

जहाँ तक याद है, उसी लेख में लोहिया ने यह अनुमान लगाया था कि अपने देश में कभी ऐसा समय अवश्य रहा है जब नदी, नदी घाटी या जल संभरण क्षेत्र के आधार पर देस और अंचल की परिभाषा सक्रिय रही होगी। नागरिक अपनी भौगोलिक—सामाजिक—ऐतिहासिक परिभाषा उसी आधार पर करता होगा।

इस किस्से का मेरे दिमाग की सरंचना पर गहरा असर है। मेरी निजी चेतना में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति का आत्म परिचय और नागरिकता की परिभाषा मूलतः पानी / नदी / घाटी आधारित होती है। सामाजिक चरित्र के संदर्भ में भी भौगोलिक पहचान सर्वथा महत्वपूर्ण घटक है। अर्थातः प्रत्येक व्यक्ति और उसका मूल समाज किसी विशिष्ट भूगोल की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक जीव / प्राणी मात्र की प्रथम पहचान भौगोलिक ही होती है। मानव सृजनात्मकता में यह तथ्य बुनियादी घटक है।

‘भूगोल’ वास्तव में पृथ्वी की एकता और अनन्त वैविध्य की परिभाषा और विवरण जानने की विधा और विद्या है। सूक्ष्म स्थानीयता का सीमांकन और वृहद अंचलों से उसका सम्बन्ध अवश्य ही कुछ भौगोलिक नियमावली पर आधारित होगा। लेकिन किसी भी भौगोलिक क्षेत्र की परिभाषा मात्र पृथ्वी आधारित नहीं हो सकती — किसी भी भूगोल के परिचय में बायोस्फियर की परिभाषा उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितना स्थानीय भूगर्भ का विवरण। जब किसी सूक्ष्म क्षेत्र अंचल की चर्चा करते हैं तो सामान्यतः उसमें एक महत्त्वपूर्ण अंग जलवायु का होता है। उस स्तर पर आकाश और सूर्य भी विशिष्ट होते हैं। पृथ्वी की तुलना में सूर्य, वायु तथा आकाश अत्यंत व्यापक तत्व हैं लेकिन स्थानीयता की परिभाषा में पृथ्वी की क्षेत्रीयता सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। निज अनुभव से जाना—पहचाना सत्य है कि अगल—बगल का गाँव होने पर भी सूर्य और आकाश का स्थानीय वैशिष्ट्य होता है। सूर्योदय और सूर्यास्त की भिन्नता को कदापि नकारा नहीं जा सकता।

जलवायु का सीमांकन भी बहुत दूर तक नहीं फैलाया जा सकता। मिट्टी (पृथ्वी) की निरन्तरता कुछ दूर तक बनी रहती है किन्तु विविधता का सिद्धान्त तो प्रकृति का नितान्त मौलिक सिद्धान्त है, अस्तित्व का सिद्धान्त है। अतः पंच तत्व से बने समस्त जीव, जन्तु, जीवाणु, वनस्पति, पदार्थ और प्राणी मात्र की मूल जाति भौगोलिक होती है। पंजाबी भाषा में परस्पर परिचय का प्रचलित मुहावरा है—पिच्छे पिंड केड़ा? अर्थातः जो पाकिस्तान में पीछे छूट गया, वह मूल स्थान कौन सा है?

पंच तत्व से बना मानव ‘पिण्ड’ और पंजाबी भाषा में मूल वतन के लिए प्रयुक्त होने वाले ‘पिण्ड’ का मुहावरा भारत की समस्त सांस्कृतिक चेतना में स्थानीयता (धरती को माँ मानने की प्रतिबद्धता) के सिद्धान्त का अनोखा प्रतीक है। मानव पिंड की सरंचना में जल तत्व की प्रधानता होती है। मानव पिण्ड का मिट्टी पानी से अटूट रिश्ता है। भारतीय संस्कृति में यह रिश्ता केवल जन्म से मृत्यु तक ही सक्रिय नहीं रहता बल्कि अनन्त काल तक जातीय स्मृति में सहेज कर रखने की प्रथा है। हम जाति प्रथा के गुण—दोष पर विमर्श नहीं कर रहे केवल यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जातीय स्मृति में मिट्टी—पानी का संदर्भ प्राथमिक तत्व है।

इस अध्याय की इतनी लम्बी भूमिका का प्रमुख अभिप्राय यही है कि किसी भी व्यक्ति, समुदाय, कुटुम्ब, कबीले से लेकर समाज, राष्ट्र तक समस्त विभागों (राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक) के लिए भौगोलिक परिभाषा का सन्दर्भ और सीमांकन अनिवार्य होता है।

भारतीय परम्परा में गांव, मौजा से लेकर जिला, अंचल, प्रदेश, देश-राष्ट्र तक का सीमांकन जल-निर्गम के आधार और विस्तार से होता था। इस स्थापना में 'था' का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि पिछले कुछ दशकों से प्राकृतिक सीमा सिद्धान्त की बजाय प्रशासनिक सुविधा का महत्त्व बढ़ रहा है।

भारत से अतिरिक्त विश्व में और भी समाज ऐसे हो सकते हैं जो अपनी, अपने देश और देस की परिभाषा नदी घाटी और जल निर्गम विस्तार के आधार पर ही करते हों लेकिन भारत की तो यह ऐसी विशेषता है कि देश का नामकरण तक जल सूचक है। भारत + वर्ष अर्थात् ऐसी भारत भूमि जहाँ वर्षा का चक्र साल भर (एक बरस) में पूरा होता है। फ्रैंच का इन्दै, अंग्रेजी का इंडिया तो 'सिंधू' (इंडस) का पर्याय है। अरबी एवं फारसी का हिन्दुस्तान भी सिन्धू का ही रूप है।

अतः भारतीय कला और सृजनात्मकता के सन्दर्भ में हमारी सर्वोपरि प्रथम स्थापना यही है कि भारत संस्कृति का मूल कारक/घटक जल की उपलब्धि, उसके उपयोग-उपभोग की विधि, संरक्षण और व्यवस्था के विधान/तन्त्र से आरम्भ होती है। पानी केवल निर्मलता, पवित्रता, पुण्य और परमेश्वर का पर्याय नहीं है बल्कि बहुतांश सृजन, कला और सांस्कृतिक अलंकरण, आभूषण, आडम्बर इत्यादि का प्रेरक स्रोत है। 'पानी' 'चमक-दमक' (पोलिश) का पर्याय है। पानी 'उतरना' या 'चढ़ना' मुहावरा नहीं, वास्तविक प्रक्रिया का विवरण है।

पानी की समस्त व्यवस्था-तंत्र और विविध प्रक्रियाओं जैसे घरेलू जल संचयन एवं उपयोग से लेकर कृषि-उद्योग तक का सूत्रबद्ध विधान है। दक्षिण में कन्याकुमारी से उत्तर में कश्मीर-लद्दाक-तिब्बत तक और पूर्व में अराकान से बलूच के पठार तक जो देश दक्षिण एशिया कहलाता है, उसमें

सैकड़ों जल घाटियां, नदी व्यवस्थाएं और विविध जल स्रोत और इन पर आधारित आंचलिक समाज और उनकी संस्कृति का अस्तित्व मिला हुआ है। विशेष ध्यानाकर्षण का विषय है कि प्रत्येक देस (अंचल) की स्थानीय आकाशीय वस्तुस्थिति के अनुरूप नक्षत्र आधारित काल गणना का विधान है। सभी की अपनी-अपनी खगोल विद्या/गणित है और सभी अंचलों का अपना-अपना कृषि शास्त्र है। जो पूरी तरह से स्थानीय पंचांग (कैलेन्डर) पर निर्भर है।

जिस भूखंड की चर्चा विश्लेषण कर रहे हैं वह एशियाई मानसून की दक्षिण-एशियाई प्रणाली में आबद्ध है किन्तु इस विशाल भूखंड में स्थित प्रत्येक देस-अंचल की वर्षा स्थानीय काल गणना के अनुरूप आंकी जाती है। सभी अंचल एक-दूसरे से जुड़े हैं, पारस्परिक निर्भरता से मुक्त नहीं लेकिन सभी की प्रकृति की स्वायत्तता कायम है। विविधता की स्वायत्तता कायम है। विविधता की स्वायत्तता अनोखा विधान है। अतः समस्त सांस्कृतिक सौंदर्य बोध और आडम्बर देस-काल आधारित हैं।

कालीदास का 'मेघदूतम्' मानसून पर आधारित कला कृति है, एक महाकाव्य है। 'मेघदूत' में निहित सौंदर्यबोध काव्य रचना की कलात्मकता का विवरण विश्लेषण हमारे निबन्ध का विषय वस्तु नहीं है। हम केवल पानी और सौंदर्य बोध की गहन परस्परता के सिद्धान्त और वस्तु स्थिति की प्रस्थापना कर रहे हैं।

केवल लोक गीत-संगीत में नहीं, समस्त शास्त्रीय गायन में भी पनघट की पनिहारिन से लेकर नन्ही-नन्ही बुन्दानियाँ, या पानी बरसे रिम-झिम, रिम-झिम का महत्त्व और अस्तित्व उत्सव की तरह उपस्थित है। राग मल्हार एक अनुपम प्रमाण है। राग मल्हार में आबद्ध रचनाओं का वाग्मय अनन्त है।

जोधपुर, अहमदाबाद, उदयपुर की बावडियाँ, झीलें और विविध तालाब पत्थर में गढ़ी कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। विश्व का सर्वथा अचरजकारी अचम्भा तो बुन्देलखंड के विशाल तालाब और उनकी प्रेरणा स्रोत से बहने वाली दस सदानीरा नदियाँ-बेतवा, घसान, केन, सिंध, बाघेन,

गरारा, पाई सूनी, पहुँज जामिनी तथा मंदाकिनी मानव कौशल का अनोखा अचम्भा हैं ।

बुन्देल खंड एक अर्द्धचन्द्राकार घाटी है, जिसे विंध्याचल और सतपूड़ा पर्वतमाला दक्षिण में बाधंती है और उत्तरी सीमा पर बहने वाली यमुना इस समूची घाटी के जल को समेटकर गंगा में पहुंचा देती है ।

ध्यानाकर्षण का विषय यह है कि बुंदेलखंड अंचल का दक्षिण से उत्तर एवं उत्तर पूर्व पनढाल की रचना तो उतनी ही पुरानी होनी चाहिए जितना कि हिमालय का उद्भव और विकास । यानि जब भी वर्तमान दक्षिण एशिया की रचना हुई है । किन्तु इस तथ्य का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि दसवीं सदी में चंदेल राजवंश के उदय से पहले बेतवा, केन, धसान, पहुँज आदि सदानीरा नदियाँ इसी वैभव से बहती थी जैसाकि पिछले सौ—दौ सौ बरस का वर्णन मिलता है ।

लगभग समूचे अंचल में मानसून के दोनों भारतीय प्रवाह—अरब सागर की तरफ से और बंगाल की खाड़ी से जाने वाले आते हैं । पिछले पचास बरस में मानसून के ऊक—चूक होने से पहले भोपाल, सागर, दमोह आदि अनेक स्थानों पर 250 से. मि. वर्षा दर्ज है ।

इस क्षेत्र की प्रमुख नदी बेतवा का उद्गम स्रोत भोपाल ताल इस तथ्य का पुख्ता प्रमाण है कि इस क्षेत्र की समस्त नदियाँ मानव उत्साह की अभिव्यक्ति हैं न कि प्रकृति की निज प्रवृत्ति । बेतवा का उद्गम न तो तीर्थ की तरह चर्चित है और न ही पिकनिक का रमणीक स्थान ।

वर्तमान भारतीय समाज ऐसे विलक्षण आत्म गौरव से अपरिचित है । कारण स्पष्ट है—हाल—फिलहाल इंडोलॉजी (भारत विद्या) की जितनी भी रचना हो सकी है, उसमें बुन्देलखंड की जलप्रवाह प्रणाली का उल्लेख ही नहीं हुआ तो 'आत्म गौरव' का प्रश्न ही नहीं उठता । जब कभी कोई फिरंगी विद्वान बुन्देलखंड जल निर्गम का गुण गान कर देगा और उसी पारिस्थितिकीय महिमा से हमें अवगत करवा देगा— अर्थात् इंडोलॉजी में बुन्देलखंड महिमा का अध्याय जुड़ जाएगा तो हम भी बुन्देलखंड में चन्देलों

की महिमा को पहचानने लगेंगे ।

बुन्देलखण्ड की नदियां किसी भी अर्थ में नहर नहीं है । और न ही वैसी प्रकृति प्रदत्त नदियां जैसी अमर कंटक से निकलने वाली नर्मदा, महानदी और सोन । अमरकंटक एक प्रसिद्ध तीर्थ है किन्तु बुन्देलखंड जलप्रवाह की नदियों के उद्गम लगभग अचर्चित अन्जान स्थल हैं । अमर कंटक से जो जलप्रवाह आरम्भ होता है उसका कैचमेन्ट (आगोर—जल संभरण) वही पर्वत श्रृंखला है, जो बुन्देलखंड जल प्रवाह की है । यदि हम इन दोनों जल प्रवाहों का पिछले 100 बरस का तुलनात्मक अध्ययन कर लें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि नदियाँ कैसे बनती हैं और क्यों मर जाती हैं ? ऐसा तभी संभव हो सकेगा जब हम गुलाम मानसिकता से मुक्त हो जाएंगे ।

भारत में विकसित मानव—प्रकृति की अतरंग परस्परता का एक अन्य आदर्श नमूना भरतपुर का 'केवलादेव घना' नाम से विश्व विख्यात पक्षी विहार है । यह बन्नी या छोटा सा घना वन मात्र 29 वर्ग किलोमीटर के भूखण्ड पर स्थित है ।

केवला देव घना, बादशाह अकबर की शिकारगाह रूपवास से मात्र 30 किमी के फासले पर है । फतेपुर सीकरी अकबर की राजधानी भी कुल 50 किमी है किन्तु अकबर कालीन वांगमय में केवलादेव अभयारण्य की कहीं कोई स्मृति या झलक दिखाई नहीं देती । यूं इतिहास की दृष्टि से अनुमान लगाएं तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि कुल मिला कर घना पक्षी विहार के उत्थान और पतन की कहानी 300—350 बरस का किरसा है ।

भरतपुर के जाट राजवंश ने इस छोटे से वन में अंजान बांध से पानी पहुंचा कर एक—डेढ़ दर्जन अस्थायी झीलों का सिलसिला व्यवस्थित कर दिया । जैसे—जैसे पक्षियों के आने—जाने, स्थायी रूप से / अस्थायी रूप से प्रवास का अनुभव होता रहा उसी तरह छिटपुट व्यवस्थाएं जैसे चन्द झीलों में थड़े बना कर उन पर देसी कीकर के वृक्ष उगा दिये । इस तरह झील के भीतर टापुओं पर पक्षियों ने शरण ली और आश्वस्त भाव से जीवन जिया तो विश्व भर में पक्षी जगत में यह सूचना स्वतः प्रसारित हो गई कि केवलादेव सुरक्षित शरण स्थली है । आव—भगत की व्यवस्था भी समुचित है ।

लोक स्मृति के अनुसार घना वन भरतपुर शहर और आसपास के गांवों के पालतू मवेशियों की चरागाह हुआ करती थी। जो गाय-बैल बुढ़ा जाते वे स्थायी रूप से इस वन में बस जाते। 1960-70-80 के दशकों में जो गाईड पक्षी विहार में सैर कराते थे उनकी मानें तो स्थानीय जनता के लिए सन् 1950 तक खुली चरागाह थी। लेकिन सुदूर मारवाड़ (थार) मरुस्थल से जो रेबड़ आते उन्हें चार महीने की चराई के लिए चार आना प्रति भेड़/बकरी और आठ आना प्रति गाय-भैंस और 12 आना प्रति ऊंट का महसूल वसूला जाता था। वर्षा ऋतु के समाप्त होते ही कार्तिक पूर्णिमा से फाल्गुन पूर्णिमा तक घना जंगल बड़ी चराई के लिए खुला रहता था। आस-पास की भैंसों तो घना की झीलों में पूरा साल विश्राम किया करती थीं।

इनसे अतिरिक्त पालतू से जंगली बना गौवंश भी घना में दीर्घ काल से मौजूद है। सर्वथा अचरजकारी तथ्य तो यह है कि पौष मास से खस नाम की बड़ी घास की गहरी कटाई (जड़ सहित) शुरू हो जाती। फरुखाबाद के अत्तार (खस काटने वाले) घना में अस्थाई घर बना लेते। बड़ी-बड़ी भट्टियों में खस घास का उबलना शुरू हो जाता। इत्र की भट्टियों के लिए ईंधन घना से ही जुटाया जाता। इत्र बनाने के ये कारखाने तीन-चार महीने लगातार चालू रहते, ठीक उन्हीं दिनों चलते जब अति विशिष्ट अतिथि साईबेरियन क्रैन/व विविध यूरोपियन बत्खें और अन्य जल पक्षी यहाँ प्रवास करते। हमने यह तथ्य इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए लिखा है कि तमाम मानव हस्तक्षेप और विविध गहन चराई से घना की समृद्धि का विकास होता था और पक्षी विहार की शांति भी यथावत बनी रहती थी।

(कदम्ब की विशेष पारिस्थितिकी)

श्रीमद् भागवत पुराण में वर्णित कृष्ण की बाल लीला का क्षेत्र ब्रज/वृंदावन मूलतः कदम्ब पारिस्थिति की क्षेत्र है। उसके वन की प्रमुख विशेषता कदम्ब के वृक्ष हैं। महाकवि रसखान ने कदम्ब का वर्णन किया है। कवि कहते हैं: यदि पक्षी रूप में पुनः इसी जगत में आना हो तो वास उन्हीं कदम्ब की डाल पर हो, जिस कदम्ब की छाँव में श्री कृष्ण ने अपना बचपन व्यतीत किया है। कदम्ब वास्तव में एक प्रतीक वनस्पति है जो अन्यांत गहरी

उपजाऊ मिट्टी, उपयुक्त आद्रता और सम वर्षा की परिस्थितिकीय को इंगित करता है। जहाँ कदम्ब के वृक्ष होते हैं – वहाँ अति विशिष्ट समृद्धि का क्षेत्र होता है। हमारा यही दावा है कि भरतपुर का घना उसी कदम्ब पारिस्थितिकीय का प्रतीक और स्मृति चिन्ह है जिसका वर्णन श्री मद् भागवत पुराण में किया गया है।

विशेष रूप के कौवे—कदम्ब में वास करते हैं। कौवों का प्रजनन काल चैत्र बैसाख (लगभग मार्च अप्रैल) का माना जाता है। देसी विशेषज्ञों का कहना तथा पुरानी मान्यता है कि कौवों ने घोंसला कितनी ऊंचाई पर बनाया है, उससे वर्षा ऋतु का अनुमान लगाया जा सकता है। कौवों ने घोंसला पेड़ के शिखर पर बनाया वो स्पष्ट है कि मामूली बरसात का साल है। घोंसले ऊंचाई से थोड़ा नीचे बनाए गए हैं तो सामान्य वर्षा का लक्षण है और यदि बिल्कुल मजबूत तनों के जोड़ में अत्यंत सुरक्षित कोटर ढूँढ कर घोंसले बनाये हैं तो सुनिश्चित अनुमान लगाया जा सकता था कि सामान्य से बहुत अधिक बरसात होगी, तीव्र गति से आंधी और तूफान भी आयेंगे।

जहाँ तक स्मरण है सन् 1980 का वाकिया है (अब से लगभग 34—35 बरस पहले) उन दिनों जयपुर में स्थायी निवास था। दक्षिण जाना होता तो आगरे से गाड़ी पकड़नी होती थी। तब ये नियम जैसा ही था कि मैं आते—जाते एक—दो दिन भरतपुर रुकता, केवलादेव में घूमता और तब जिधर जाना होता उधर चला जाता। उस बरस पनेह सिंह घना में मुख्य वनसंरक्षक थे मैं पहुंचा तो बड़े खुश हुए।

ठीक समय पर आए हो। घने में सारस—बगुलों का स्वयंवर चल रहा है।

संभवतः जून का गर्मियों का प्रथम सप्ताह था। हल्की—फुल्की बरसात हो चुकी थी। पनेह सिंह केवलादेव में एक झील के निकटवर्ती खुले मैदान में ले गए थे। आसमान में हल्का सा बादल था, बरसात की बिल्कुल हल्की फुहार यानी मन को सुहानी लगने वाली फुहार थी। उस मैदान में सचमुच बड़ी चहल—पहल थी। हजारों की संख्या में सारस एकत्रित हो कर शोर मचा रहे थे और निरन्तर नाच रहे थे। नाचते—नाचते कोई दो सारस एक साथ टुमकने लगते। पनेह सिंह खुशी से चिल्लाते – वह देखो, वहां एक जोड़ा और

बन गया और सच में इस तरह जो जोड़ा दिखाई पड़ता वह तुरन्त ही आकाश में उड़ जाता ।

पनेह सिंह ने बताया था कि सारस बगुले बहुत ही वफादार यानी समर्पित प्रेमी होते हैं । एक बार जुड़ जाते हैं तो आजीवन एक—दूसरे का साथ नहीं छोड़ते । किसी कारण एक दूजे से बिछुड़ गए तो अकेला सारस शीघ्र ही प्राण त्याग देता है, पुनः साथी नहीं ढूँढता ।

पनेह सिंह ऐसे किस्से सुनाते तो बड़ा अविश्वसनीय लगता । लेकिन, वन्य जन—जीवन सम्बन्धी, उनके बताए इतने सच देखे थे कि उनकी कही किसी भी बात पर अविश्वास तो किया ही नहीं जा सकता था ।

बहराल दो दिन तक भरतपुर रुक कर सारस बगुलों का सामूहिक विवाह का उत्सव देखा था । पनेह सिंह ने बताया था कि अगले दो—तीन दिन में नए—पुराने जोड़े उपयुक्त स्थान चुनकर घोंसले बनाएंगे और कुछ ही दिन में अंडे दे देंगे । मध्य जुलाई तक नन्हे बगुलों की चींचीं सुनाई देने लगेंगी ।

मैं मन ही मन बड़ा मगन था । मध्य जुलाई तक ही मेरी वापसी का अनुमान था । कुल मिलाकर पांच सप्ताह का मद्रास, कन्याकुमारी, बेंगलुरु का प्रवास था ।

जुलाई के तीसरे सप्ताह में वापसी हुई । मैं फिर भरतपुर रुका । पनेह सिंह बहुत उदास थे । उनके दफ्तर में माहौल ही बिगड़ा हुआ था । बहुत ही दुख भरी उस्सास छोड़ कर बताया था ।

सारस ने घोंसले बनाए, अंडे भी दिये लेकिन कुछ ही दिन बाद अंडों को बिना सेए छोड़ कर अन्यत्र उड़ गए । लगभग सभी सारस जा चुके हैं ।

मगर क्यों? मैंने घबरा कर पूछा था ।

पनेह सिंह ने बताया था इस बरस इस इलाके में भयंकर अकाल होना है । बारिश नहीं के बराबर ही समझो ।

फिर पनेह सिंह ने स्थानीय घाघ-भडुरी के किस्से सुनाए थे। जिनमें ब्रज बोली का प्रभाव था और उसी क्षेत्र में बरसात होने या न होने के लक्षण थे। एक बार सुने दोहे तो अब याद नहीं। उसी बरस समूचे राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र के इलाके में 80 के दशक में पड़ने वाले दीर्घ अकाल की शुरुआत हुई थी।

उसी बरस यह पाठ पढ़ा था कि अपने देश में जितने 'देस' हैं उतने ही घाघ-भडुरी के अवतार हैं।

भारतीय मौसम विज्ञान उसी दिन शुरू होगा जब राष्ट्रीय मौसम वेध शालाओं में घाघ-भडुरी को पूर्वज आचार्य के मानिन्द प्रतिष्ठित किया जायेगा। देस-देस, और अनेक देस से गठित देश में पानी की विविधता और उस पर आधारित भिन्नता और एकता को सूत्रबद्ध किया जा सकेगा।

मूलतः घाघ-भडुरी वांग्मय ही वह मौलिक कलाकृति है, जो मानव और जलवायु परस्परता की व्याख्या प्रस्तुत करती है। ऐसी जलवायु विद्या हजारों बरस की अनुभव जन्य स्मृति का सार तत्त्व होती है। पिछले 70 बरस या सौ दो सौ बरसों में जो साईंस प्रदत्त भविष्य दर्शन और दृष्टिकोण विकसित हो रहा है, उसमें घाघ-भडुरी वांग्मय को समाहित करने की कोई गुंजाइश नहीं है। इसलिए आधुनिक साईंस कभी भी मौसम विज्ञान तो नहीं बन सकती।

भारत में स्वदेशी मौसम और जलवायु विज्ञान की नींव तो तभी रखी जा सकेगी जब हम भडुरी के दोहों के अर्थ का सत्य जान सकेंगे।

मारवाड़ की कहावतें हैं—
"तीतर पंखी बादली,
विधवा काजल रेख।
भडुरी कहै, घाघ सै,
या बरसै, वा दूजा करै;
या कथन माँ मीन ना मेख"

तीतर के पंखों जैसे छितराए रंग का बादल हो, या विधवा आँखों में काजल डालने लगे तो भड्डरी की चेतावनी है कि बादल तो बरसेगा और विधवा का नया प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो चुका है — इस सत्य में कभी चूक नहीं हो सकती।

अंग्रेजी राज के दौरान घाघ— भड्डरी की कथा व दोहों के एकाध नमूने हमारी स्कूली विद्या में समाहित थे। स्वतंत्रता के बाद उतनी सी सूक्ष्म संस्कार की परम्परा को भी साईंस विरोधी मान लिया गया। ऐसा करना अनुचित भी नहीं, शिक्षा का आधुनिकीकरण करना और राष्ट्रीयकरण भी अनिवार्य है किन्तु घाघ— भड्डरी तो नितान्त स्थानीय स्मृति के विवेक का सार तत्त्व है। अतः घाघ— भड्डरी को भुलाए रखना उसी 'विश्व—दृष्टि' का नतीजा है, जिसमें यह निर्णय अंतिम और सुनिश्चित है कि राष्ट्र का नव निर्माण तो उधारी की विद्या से ही होना है। इस विषम परिस्थिति में यह विवेक सरल नहीं कि 'राष्ट्रवाद' आत्मघाती भी हो सकता है।

उत्तरी यूरोप से आए अतिथि उत्तर भारत की सर्दियों में यहाँ की मुलायम धूप का आनन्द लेकर यूरोप में मार्च—अप्रैल तक वसन्त शुरू होता तो पुनः अपने घर लौट जाते। झीलों को उजाड़ देने के बावजूद हजारों की संख्या में बत्ख तो आज भी आती हैं। सुदूर आस्ट्रेलियाई, पूर्वी एशियाई पक्षी भी यहां बड़ी संख्या में उपस्थित होते थे। कुल मिला कर 450 जातियों—प्रजातियों के पक्षी यहाँ के प्रवासी थे या निवासी? यह एक असाधारण संख्या है। पक्षी विशेषज्ञों का कहना है कि अमेरिका में हजारों वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में फैले पक्षी विहार भी इतने समृद्ध नहीं हैं।

जैसा हम कह चुके हैं कि अकबर के काल में (1556 से 1605) इस घने की विशेषता का कोई जिक्र नहीं। मूर्त रूप में जो कुछ विकसित हुआ—स्वरूप बना वह पूर्णतः जाट राजाओं के काल में सन् 1700 से 1950 के बीच की कहानी है।

घना वास्तव में एक अद्भुत् अचरज—कारक वनस्पति संग्रहालय और अत्यंत समृद्ध जन्तुआलय है। हमारी समझ से यह अभयारण्य प्रकृति और मानव की संयुक्त सृजनात्मकता का प्रतीक और प्रमाण है। ऐसे अनेक

भू-परिदृष्य जिनके निर्माण में मानवीय विवेक और संवेदना का योगदान स्पष्ट दिखाई पड़ता है, इस भारत भूमि की अनोखी विशेषता हैं। भारतीय लोक मानस में इस तथ्य की बहुत गहरी पैठ है कि प्रकृति को समृद्ध बनाने से ही मानव सच्ची समृद्धि जी सकता है।

इस प्राकृतिक जन्तुआलय का वर्तमान (हाल ही में निवर्तमान) रूप बेशक 1700 से 1950 के ढाई सौ वर्ष में प्रकट हुआ हो इस क्षेत्र की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। घना का एक प्रचलित नाम कदम्ब कुंज भी है। वास्तविकता भी यही है कि यहाँ कदम्ब के विशाल वृक्ष बड़ी संख्या में दिखाई पड़ते हैं। केवलादेव मन्दिर के आस-पास का क्षेत्र कदम्ब कुंज ही कहलाता है।

कदम्ब कुंज की उपस्थिति और नाम इस प्राकृतिक संग्रहालय का सीधा सम्बन्ध व्यास जी रचित भागवत् पुराण, यानि द्वापर युगीन भगवान श्री कृष्ण से, जोड़ देते हैं। श्रीमद् भागवत् में ब्रज क्षेत्र के वनों का जो भी वितरण उपलब्ध है, उसके लगभग सभी प्रतीक जैसे विशाल अजगर, बनैले हिंसक चौपाए, बड़ी संख्या में पक्षी, विविध फल-फूल जैसे बेर, बेल, नींबू, करौंदा, शाकाहारी चौपायों के लिए सभी तरह की घास, पक्षियों के लिए ताल के चावल, मछली, भैंसों के लिए कमल और सिंघाड़ा और यह सभी कुछ इतनी बहुतायत में होता था कि यह सभी कुछ मापा नहीं जा सकता।

प्रागऐतिहासिक द्वापर युग से आगे बढ़ कर इस क्षेत्र में जो भी पुरातत्वीय अनुसंधान (archaeology) अभी तक संपन्न हुए हैं उसमें भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी की उपस्थिति बहुत व्यापक है। जैन शिरोमणि तीर्थ 'श्री महावीर जी' सत्तर-अस्सी किलोमीटर से ज्यादा दूर नहीं।

मथुरा-वृंदावन भी 50 किलोमीटर पर स्थित हैं। इतना सब कुछ होने पर भी केवलादेव घना पक्षी विहार तीर्थ नहीं कहलाता। समूचे विश्व से जो पक्षी यहां आते हैं उन्हें अंग्रेजी में **pilgrim** के सम्बोधन से चिन्हित करने का रिवाज अवश्य है। इस क्षेत्र को प्रत्यक्ष तीर्थ न मानने के जो भी कारण हों, परम्परा हों उनका परिणाम है कि केवलादेव घने पर 'पवित्र पावन तीर्थ स्थल'

की मोहर नहीं है। नतीजा यह हुआ कि पचास के दशक में 'जन प्रतिनिधि शासन प्रणाली' के शुरू होने के कुछ ही दिन बाद क्षेत्रीय जन प्रतिनिधियों ने पक्षी विहार का अस्तित्व समाप्त कर 29,00 हेक्टेयर भूमि को धान की खेती के लिए मांगना शुरू कर दिया।

आधुनिक साईन्स का हमला भी साधारण नहीं हुआ। विख्यात पक्षी विशेषज्ञ सलीम अली ने अमेरिका के स्मिथ सोनियन शोध संस्थान के सहयोग से एक अचरजकारी योजना पर काम शुरू किया। 1971 में यह लेखक जब पहली बार एक सैलानी की तरह घना पहुँचा तो देखा कि अनेक मजदूर विभिन्न पक्षियों को जाल बिछाकर पकड़ रहे थे, उनके पांव में छल्ले पहना रहे थे। पक्षी विहार अस्त-व्यस्त था, पक्षी समाज में अजीब अशांति व्याप्त रही थी।

सलीम अली साहब में और स्मिथ सोनियन संस्थान में जो समझौता हुआ हो, जो भी विमर्श बना हो, इतना सुनिश्चित था कि पूरी योजना निरर्थक है और पक्षियों को छल्ले पहना देने से उनकी गत्यात्मकता का चार्ट तो नहीं बनाया जा सकता। ऐसी गत्यात्मकता तो उसी सूरत में चिन्हित की जा सकेगी जब छल्ले में उस तरह की सूक्ष्म सूचना यान्त्रिकी स्थित हो जो गत्यात्मकता की प्रतिक्षण सूचना प्रेषित कर सके और उसकी रिकार्डिंग की समुचित व्यवस्था हो अन्यथा प्रयोग का कोई अर्थ ही नहीं था। किन्तु इतनी सी सरल बात न तो पक्षी विशेषज्ञ सलीम अली को सूझी और न वन विशेषज्ञ सरकारी हुकुमशाहों को।

जो भी विवाद का हल्ला हुआ, तत्कालीन प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी तक पहुँच गया उस हस्तक्षेप के बाद सलीम अली शीघ्र ही अपनी और स्मिथ सोमियन टीम के साथ पार्क से विदा हो गए।

सलीम अली द्वारा भरतपुर घना में पक्षियों को छल्ले पहनाए जाना साधारण अपराध नहीं था। श्रीमती गांधी का अपना तौर तरीका था, उन्होंने हस्तक्षेप से पहले ही पर्यावरणवादियों से यह आश्वासन ले लिया था कि मामले को तूल नहीं दिया जाएगा। उनके विचार में पूरी योजना के लिए राजस्थान सरकार का वन विभाग सलीम अली की तुलना में ज्यादा गुनहगार था।

इन्हीं दिनों एक और घटना घटी थी। घना की झीलों में जल कुम्भी (hyacinth) का विस्तार होने लगा। तभी एक झील में जहां कच्छ के पेलिकन्स का बड़ा निवास था, वहां कुछ अशांति हुई तो पेलिकन उड़े मगर कुछ पेलिकन जलकुम्भी में फंसकर वहीं रह गए। तब पेलीकन्स ने घना आना बंद कर दिया। सन् 1977 में गेम वार्डन फतेह सिंह राठोड़ के नेतृत्व में एक बड़ा अभियान शुरू हुआ, जिसके सफल होते ही 1977-78 की सर्दियों में हवासिल लौट आए। हवासिल की वापसी का समाचार छप गया तब विख्यात सम्पादक खुशवंत सिंह ने अपने साप्ताहिक स्तम्भ में वन अधिकारी फतेह सिंह, बाघ विशेषज्ञ कैलाश सांखला आदि की सेवाओं/वन्य जीवों के प्रति समर्पण की भूरी-भूरी प्रशंसा की थी। यह तथ्य भी स्पष्ट किया था कि पक्षी विहार में आस-पास की धरती/मिट्टी को निरन्तर रॉक फास्फेट, विविध पोटाश एवं अन्य आवश्यक खनिज उपलब्धी ने किस तरह समृद्ध किया है और विशाल भू भाग की सजलता को निरन्तरता प्रदान की है।

खुशवंत सिंह ने यह भी स्पष्ट किया था कि दीर्घ कालीन सांस्कृतिक धार्मिक परम्पराओं के चलते ही केवला देव घना जैसे अनोखे अचरजकारी जीव-जन्तु संग्रहालय विकसित होते हैं। प्रकृति बहुत कुछ स्वयंमेव करती है किन्तु ऐसे चमत्कार तभी संजोती और परोसती है जब मानव समाज प्रकृति के साथ सक्रिय सहयोग जुटाता है। केवलादेव जैसे संग्रहालय इन्सान की वैश्विक धरोहर हैं।

निस्संदेह घना पक्षी विहार असंख्य स्थानीय पक्षियों का आवास और प्रवासी पक्षियों की विश्राम स्थली है। कुल मिलाकर यह अनुमान सरल नहीं कि दिन-प्रतिदिन की औसत दर से कितने जीवों के लिए कितना भोजन खाद्य पदार्थ आवश्यक है। उस युग में वन विभाग के एक प्रमुख अधिकारी कैलाश सांखला जो अनुमानित गणित फैलाते, उसके हिसाब से दैनिक आवश्यकता हजारों नहीं तो सैकड़ों टन खाद्य पदार्थ की तो हुआ ही करती थी।

बड़े पैमाने पर जलीय पक्षी (विविध बत्खें, बगुले, हवासिल आदि) वहीं बसेरा करेंगे जहां पर्याप्त मात्रा में मछली उत्पन्न होगी और सहज ही उपलब्ध भी। मछली वहीं होगी जहाँ सतही झीलों का विस्तार होगा।

गाय-भैंस के गोबर का खाद होगा। तालाब में उग सकने वाले विभिन्न अन्न होंगे। कुल मिलाकर मछली के लिए पर्याप्त भोजन होगा।

जलचर पक्षी पशु से अतिरिक्त मैदानी पक्षियों के सन्दर्भ में भी खाद्यान्न चक्र को समझना होगा। जंगल में गाय, भैंस, हिरण व अन्य चौपायों का पर्याप्त गोबर होगा, उसमें 24 घन्टे के भीतर कृमि पैदा होगा तो उसे चाटने के लिए तीतर और लवा होंगे। लेकिन उनके लिए और भी प्रचुर मात्रा में दीमक जैसा कृमि प्रचुरता में उपलब्ध होना चाहिए। थलचर पक्षियों के लिये पर्याप्त भोजन के अतिरिक्त इतनी दीमक और होनी चाहिए कि बूढ़े पेड़ निज प्रक्रिया से मिट्टी बनते रहें। किसी भी जंगल के घना की तरह समृद्ध होने के लिये यह अनिवार्य शर्त है कि निकटवर्ती समाज-वन्य जीव, जन्तु, वनस्पति की जो भी चक्रीय व्यवस्था तथा पारस्परिक निर्भरता है उसके प्रति संवेदनशील हो।

इस संदर्भ में वेद व्यास ने जो व्याख्या महात्मा विदुर और भीष्म पितामह के मुख से कहलवाई है, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को यह समझाने का प्रयास किया है कि समाज और वन में जो सिंह हैं या सिंह समान हैं उनकी रक्षा राजा का कर्तव्य है जैसे सिंह वनों की रक्षा करते हैं वैसे ही सिंह समान बहादुर प्रजाजन राजा की सुरक्षा करते हैं। सिंह, शेर, बाघ जाति के विविध हिंसक पशु केवल शाक-तृण भक्षी पशुओं की संख्या और वनस्पति की मात्रा में संतुलन ही कायम नहीं करते बल्कि अपनी गुर्राहट के प्रताप से काष्ठ चोरों और अवैध शिकारियों से भी वनों की रक्षा करते हैं।

और विविध संवादों में यह तथ्य भी स्पष्ट किया है कि जिस राज में वन सुरक्षित रहते हैं वहां समवर्षा का विधान स्वतः विकसित हो जाता है, जिस राज में सम वर्षा होती है वहां की प्रजा सुखी होती है। सुखी प्रजा राज्य का कर सहज भाव, स्व प्रेरणा से चुकाती है। अतः वन्य सिंहों की रक्षा संवेदनशील राजधर्म है। इसी व्यवस्था के नाते सिंह को माँ दुर्गा का वाहन कहा गया।

ऐसा ही एक उपदेश शांति पर्व में भीष्म पितामह ने नदियों के सन्दर्भ

में किया है। राज धर्म की परिभाषा करते हुए भीष्म पितामह ने कहा है :

राजन (युधिष्ठिर) जल के स्वच्छन्द किन्तु, संयमित प्रवाह को नदी कहते हैं। प्रकृति की व्यवस्था में मानव के लिए नदियों के स्वतंत्र प्रवाह से अधिक उपयोगी अन्य किसी व्यवस्था को मैं नहीं जानता।

यह राज धर्म है। राजा का कर्तव्य है कि वह ऐसी व्यवस्था सुनियोजित करे कि उसके राज में बहने वाली नदियां सदैव समान रूप से वेगवती बनी रहें क्योंकि जल के वेगवान प्रवाह को ही नदी कहते हैं।

ऐसा ही एक नीति संवाद सिंधु राज समूह और राम के बीच रामायण में वर्णित है। इस संवाद में वाल्मीकी ने सिन्धुराज के माध्यम से भगवान राम को स्मरण कराया है कि समुद्र यानि जल के भण्डारण की सृष्टि की लीला में भूमिका क्या है? और जो भी जल की / उसके भंडारण की भूमिका है वह स्वयं सृष्टिकर्ता द्वारा सुनिश्चित की गई है। अतः स्वयं सृष्टिकर्ता भी इस वैधानिक व्यवस्था से बंधा है। समुद्रराज इस सृष्टि संवाद में साक्षात् कर्ता यानि राजा रामचन्द्र को यही तथ्य समझा रहे हैं कि स्वयं सृष्टिकर्ता अपने बनाए विधान का उल्लंघन करेगा तो जगत में कैसा भयावह उत्पात हो जाएगा?

समुद्रराज ने भगवान राम को केवल स्मरण कराया है कि वह समुद्र से जैसा रास्ता मांग रहे हैं उसके क्या परिणाम होंगे। समुद्र के भीतर एक ब्रह्मांड स्थित है। असंख्य प्राणी निवास करते हैं, जो सृष्टि की लीला में व्यस्त हैं। उसके नष्ट होने से किस प्रकार का हाहाकार मच सकता है। यानी समुद्र के भीतर जो जीवन है, उसे अनायास ही अवरुद्ध नहीं किया जा सकता।

समुद्र और सृष्टिकर्ता के बीच जो संवाद कथानक के भीतर रचा गया है, कवि कौशल की कलात्मकता, सौंदर्य बोध की अद्भुत एवं उत्कृष्ट बानगी है।

नाटकीयता अपने चरम पर है—साक्षात् भगवान राम को तत्काल समुद्र पार कर लंका पहुँचना है। वह समुद्र से अपनी सेना के लिए रास्ता मांग रहे हैं। समुद्र ने प्रार्थना की अनसुनी कर रखी है। निरन्तर समुद्र देव की

स्तुति हो रही है किन्तु कहीं कोई सुनवाई नहीं है। पहले लक्ष्मण को क्रोध आता है तब भगवान राम को भी समझ आती है, बिना रौद्र रूप धारण किए तो कुछ होगा नहीं।

भगवान राम कोई पिकनिक मनाने तो निकले नहीं हैं। अत्यंत आवश्यक कार्य से ही समुद्र के पार जाना है। एक विशाल सेना भी साथ ले जानी है। उस विकट परिस्थिति में समुद्र राज का कर्तव्य बनता है कि वह राम और उनकी सेना को पार जाने दें। संवाद में व्यक्त दुविधा का निष्कर्ष है कि जिस तरह समस्त जीवों के लिए विधान सुनिश्चित है कि समुद्र मार्ग से जाना है तो तैर कर ही जाना होगा। या पक्षी राज की तरह उड़ कर जाना होगा। अतः स्वयं सृष्टिकर्ता को समुद्र यात्रा करनी है तो साधारण जीवात्मा की तरह नौकायान की व्यवस्था कर लें।

संजोग—सुयोग यह है कि सुग्रीव की सेना में दो तकनीशियन जल और नील मौजूद हैं, जो पत्थर को तराश कर तैराना जानते हैं। समुद्र का एक आश्वासन है कि उस यात्रा के दौरान वह पूरी तरह से अनुशासित और शांत रहेगा, यानि जो सहयोग अपनी प्रकृति के अनुरूप बह कर सकता है, उसमें त्रुटि नहीं होने देगा।

इस कथा प्रसंग की शिक्षा यही है कि जल की मर्यादा (प्रकृति की प्रवृत्ति) का भगवान राम, हिन्दू सभ्यता में साक्षात्, सर्वशक्तिमान ईश्वर के अवतार, भी उल्लंघन नहीं कर सकते। जल धर्म की मर्यादा सुनिश्चित है। प्रथमतः समुद्र के भीतर जलचर का विशाल समुदाय—समाज है, द्वितीय, पृथ्वी पर जो सृष्टि है उसमें जो भी जीवन जल पर आधारित है उसे आवश्यकता के अनुरूप जल की आपूर्ति करनी है। यानी जो भी जलाधारित जीवन है उसकी रक्षा में समुद्र कोई कोताही नहीं बरत सकता। समुद्र का यही मूल धर्म है। न राम न राम का कोई वंशज जल की या प्रकृति की मर्यादा का उल्लंघन कर सकता है।

आचार—संहिता की यह परिभाषा बनी कि भारत देश में जल यानी प्रकृति का उपभोग ऐसे कौशल से किया जाएगा, जिसमें भगवान राम अपनी सेना के साथ पार तो अवश्य जाएंगे किन्तु समुद्र (जल—भंडारण) की किसी

मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे। बस इसी अनुशासन को हम जल-कौशल की संज्ञा के रूप में परिभाषित कर रहे हैं।

हमारे इस निबन्ध में जल की स्वतः निर्मलीकरण की प्रवृत्ति का विश्लेषण प्रमुख विषय है। जल का यह स्वभाव जल की गतिशीलता में निहित है। जल बह कर आगे बढ़ने या वाष्प बन कर उड़ने की प्रकृति को हर परिस्थिति में कायम रखता है। यानि गुरुत्व आकर्षण के सिद्धान्त के आधार पर या तो अपने घर लौटना चाहता है या पृथ्वी के गर्भ में प्रवेश करना चाहता है। जहां तक सुलभ मार्ग मिलता है अपने रास्ते चलता है, अवरुद्ध हो जाता है तो नया रास्ता बनाने लगता है। गतिशील बने रहने के लिए दूसरी प्रक्रिया है वाष्पीकरण की। सूर्य और वायु के संयुक्त प्रभाव से जल के संपर्क/संसर्ग की प्रतिक्रिया को ही वाष्पीकरण कहते हैं। यह क्रिया भी मूलतः स्वनिर्मलीकरण के अभ्यास का महत्त्वपूर्ण अंग है।

जल आकाश में प्रवाहित होता है तो तेजस में आहुति देता है—पुनः जन्म लेता है सृष्टि पर जैव-जीवन की रक्षा के लिए। जल अमरत्व का प्रतीक है किन्तु निज मान के लिए नहीं, अन्य को जीवित रखने के लिए, सदैव निर्मल बन कर उपलब्ध रहने के लिए।

समुद्र—राम प्रसंग में समुद्र राज भगवान को अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति (फितरत) का स्मरण करवा कर यह प्रार्थना करता है ; हे प्रभु मेरे स्वभाव और संस्कार की विधि आपके द्वारा रची गई है, इस प्रक्रिया में सहयोगी बनिए। कृपया मेरा धर्म और मर्यादा अक्षुण्ण बनाए रखने में सहयोग करें, बाधा न डालें।

अन्ततः राम जल की मर्यादा का मान रखते हैं, सहायक बनते हैं इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम कहलाते हैं।

इस संवाद प्रसंग का विपरीत पक्ष भी है। राम निज धर्म की रक्षा के लिए यात्रा पर निकले हैं। निज पत्नी को वापस लाने लंका जा रहे हैं। येन केन प्रकारेण लंका तो जाना ही है। वर्ना निज धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। अतः निज धर्म की रक्षा इस तरह करनी है कि उस पार चले जाएं और जल की मर्यादा का उल्लंघन न हो। जितनी जरूरी निज धर्म की रक्षा है, उतनी ही

आवश्यक जल धर्म की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखना है। अतः इस प्रसंग का नीति वचन संयुक्त रूप में ही प्रतिपादित होता है। जल धर्म भी तभी बचेगा जब राम का बेड़ा पार लग जाए। यही संयुक्त आचरण, समुद्र के उपदेशानुसार जल धर्म की रक्षा करते हुए राम सेना सहित अति शीघ्रता से पार उतर जाएं, जल धर्म है।

इस संयुक्त नीति-संहिता के अन्तर्गत राम पत्थर के नौकायन का निर्माण करवाते हैं, समुद्र स्मरण करवाता है कि नल और नील हैं जो पत्थर को मंत्र+तंत्र+यंत्र से सिद्ध कर सकते हैं, तैरा सकते हैं। समुद्र का आश्वासन है कि वह शांत रह कर सहयोग भी करेगा।

रामायण आख्यान में उल्लिखित पुरुष+प्रकृति की परस्परता ही भारत का जल कौशल है। आवश्यकता पड़ने पर सूझ-बूझ से पत्थर तिराए जा सकते हैं, किसी भी संकट का सामना करने के लिए प्रकृति का ध्वंस आवश्यक नहीं। प्रकृति के उपभोग में दोष नहीं, किन्तु मर्यादा उल्लंघन नहीं। जल कौशल का अर्थ स्पष्ट है—दोनों संरक्षण और उपभोग इस तरह किया जाए कि जल की मूल प्रकृति, यानि धरती और आकाश में उसकी गत्यात्मकता अक्षुण्ण बनी रहे।

इसी आधार पर सिद्धान्त बना कि जल का उपभोग धरती की जल-निर्गम प्रणाली और आद्रता-विस्तारण प्रबंधन को सुदृढ़ करे न कि नष्ट-भ्रष्ट कर दे। 'जल कौशल' का अत्यंत संवदेनशील विषय जल के निर्मलीकरण में सहयोग का है न कि जल को प्रदूषित कर विष-युक्त बनाने का।

औपनिवेशिक युग का गंभीर शाप यही है कि भारत देश ने गुलाम मानस से ओत-प्रोत मदहोशी में जल की निर्गम व्यवस्था को अवरुद्ध किया और मलयुक्त बना कर इस कदर प्रदूषित कर दिया कि आज समस्त जल विष समान है। इस जघन्य अपराध का प्रायश्चित्त आसान नहीं।

अनेक अर्थों में जल कौशल भारत देश का सांस्कृतिक गौरव भी है और उच्च कोटि की गुणवत्ता की जीवन शैली का मूलाधार भी। पानी निरन्तर

बहना चाहिए, डेल्टा की धुलाई नियमित होनी चाहिए वरना समुद्र तटीय भूमि लील लेगा। सदानीरा जल निर्गम तभी संभव है जब उसकी गति में स्थिरता बनी रहे यदि वर्षा ऋतु में सारा पानी बह जाएगा तो बाकी के आठ महीने डेल्टा की धुलाई कैसे संभव है। अतः सिद्धान्त बना—जल संरक्षण मूलतः जल निर्गम को नियमित बनाने के लिए अनिवार्य है।

मेघदूत समुद्र की तरफ से मैदान में आता है तो समुद्र से आद्रता उठा लाता है किन्तु मैदान से समुद्र की तरफ जाता है तब यदि आद्रता विस्तारण नहीं करेगा तो सूखी हवाएं शुष्कता का विस्तार कर देंगी और समूचा देश मरुस्थलीय क्षेत्र में परिवर्तित हो जाएगा। अतः वाष्पीकरण की नियमित प्रक्रिया के लिए जल—काया और भंडारण सदैव उपलब्ध रहना चाहिए। यदि स्थानीय स्तर पर जल—भंडार उपलब्ध नहीं होंगे तो सूखी आंधियाँ अंधड का शमन असंभव हो जाएगा।

कुल मिलाकर एशियन मानसून के प्राथमिक क्षेत्र—उद्गम अंचल में जल प्रबन्धन की अनेक तकनीकी व्यवस्थाएं विकसित की गई हैं सभी इस मौलिक सिद्धान्त पर आधारित थीं कि भारत (दक्षिण एशिया) का जल निर्गम एक अति पवित्र पुण्य भूमि है, जिसके धरातल के विविध स्तर, चढ़ाईयाँ और उतराईयाँ डूंगर, पनढाल और गड्डे यानि समुचित भूपरिदृश्य आदि बनावट एक सोची—समझी रूपरेखा पर आधारित है और इसलिए अलंघनीय है। अतः समस्त जल प्रबंधन इस आधार पर आयोजित होना है कि जल निर्गम की समुच्चय व्यवस्था का स्वरूप यथावत बना रहे उसमें कहीं कोई व्यवधान न उत्पन्न हो।

उदाहरण के लिए बिहार प्रांत में आहार और पर्ईन की व्यवस्था है। इसमें भू परिदृश्य से कोई छेड़छाड़ नहीं है। आहार उस—उस जगह विकसित किए जाते हैं जहां विशाल क्षेत्र का पानी स्वतः एकत्रित होता है। और पर्ईन वो नले और नालियाँ हैं जो प्राकृतिक पनढाल के साथ बह कर खेतों की सिंचाई करते हैं समूची व्यवस्था प्रकृति की स्व—प्रवृत्ति के अनुरूप होती है। मानव श्रम से उसे व्यवस्थित करना होता है। जैसे जलाशय के बांध को सुदृढ़ करना होता है और पर्ईन में जो मिट्टी एकत्रित हो जाती है, उसे उठा कर खेतों में ले जाना होता है।

इसी तरह थार मरुस्थल के खडीन हैं। बुन्देलखंड के तालाब और नदी-नाले हैं। गंगा, जमुना दोआब के रजवाहे भी प्रकृति प्रदत्त व्यवस्था थी। गंगा, यमुना और बड़ी सहायक नदियों में बाढ़ आती थी तो रजवाहे सक्रिय हो जाते थे। पानी के उफान और उसमें बहती मिट्टी (रज) को खेतों में बिछा देते थे। इसी से नाम पड़ा रजवाहे। जिन रजवाहों को लम्बे समय तक मानव हस्तक्षेप से संवारा नहीं जाता था वे अपना स्वरूप और स्थान नदियों की तरह थोड़ा इधर-उधर भी करते रहते थे। मध्य भारत में भोपाल ताल, सागर-ताल और बुन्देलखंड के सैकड़ों ताल-तलैया मानव हस्तक्षेप के नमूने हैं। भोपाल ताल एक ऐसा विशाल जल भंडारण है, जो मात्र एक 500-550 गज लम्बे और 60-70 फुट ऊंचे बांध से निर्मित है। बाकी का कुल नक्शा कुदरत ने खुद बनाया है।

दक्षिणी राजस्थान में दो बड़ी झील हैं -राजसमन्द और जयसमंद। 'समंद' मूलतः समुद्र का पर्याय है। राजसमन्द में तो मन्दिर का सौंदर्य ही उकेरा गया है। जय समन्द का आगोर-पाछोर यानि जल संचयन क्षेत्र सौ वर्ग मील से अधिक क्षेत्र में फैला हुआ है।

ऐसी अनेक व्यवस्थाएं देश भर में कायम हैं। उत्तराखण्ड क्षेत्र में छोटी-बड़ी नदियों से छोटी-छोटी नहर निकाली जाती हैं, बिना किसी गतिरोध के। ये नहरें ढलान पर बहते-बहते खेतों या बस्तियों की तरफ चली जातीं और पुनः मातृ नदी में जुड़ जाती हैं। दक्षिण अरावली के उदयपुर संभाग में भी ऐसी छोटी नहरों का जाल बिछा हुआ था।

जल कौशल की ऐसी सैकड़ों मौलिक, नितान्त स्थानीय व्यवस्थाएं देश भर में उपलब्ध हैं, जो भारत के जल-कौशल का नायाब नमूना प्रस्तुत करती हैं।

भारत का जल कौशल ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त है जो जल के भौतिक विज्ञान की अवधारणाओं पर आधारित है। भारत की लोक विद्या का यही तात्त्विक आधार है कि दर्शन शास्त्र और भौतिक विज्ञान में कहीं कोई विरोधाभास नहीं है। जल दर्शन में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि तमाम

दार्शनिक सिद्धान्त: जैसे: बहता पानी निर्मला। 'पानी अपना स्तर प्राप्त कर लेता है।' 'गड़ढ़ा है तो उसमें पानी भरेगा ही', 'बिन पानी सब सून' आदि—इत्यादि। जल की प्राकृतिक गुणवत्ता से उपजा सामाजिक/दार्शनिक ज्ञान—विज्ञान है।

यदि किसी 'साईंटीफिक तकनीकी' के कारण जल प्रदूषित होता, अपनी गुणवत्ता खोता है, जैसे निर्मलता से वंचित हो जाता है तो यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि ऐसी साईंस और तकनीक वैज्ञानिक पद्धति नहीं है।

भारत देश के विद्वत समाज को इस वास्तविकता से अवश्य ही सन्मुख होना पड़ेगा कि अनुवादित ज्ञान—आयातित विद्या से देश का निर्माण नहीं हो सकता। साईंस पश्चिम की विद्या है जबकि विज्ञान भारतीय परंपरा की ज्ञान मीमांस। कदापि साईंस और विज्ञान पर्यायवाची या समानार्थी मुहावरे नहीं हैं।

जल कौशल पर आधारित तकनीकी में बाढ़ को नियंत्रित नहीं किया जाता, बल्कि बाढ़ द्वारा बिछाई मिट्टी की उत्पादकता का लाभ उठाया जाता है। जीवन पद्धति को इस तरह संचारित किया जाता है कि बाढ़ से होने वाले नुकसान सर्वथा न्यूनतम हो जाएं और लाभ का विस्तार हो।

नदी के खादर (बाढ़ विस्तार क्षेत्र) में कृषि का सहज चलन है लेकिन घास—फूस की झोपड़ी से अतिरिक्त किसी भी तरह का कच्चा या पक्का निर्माण अवैध है। बाढ़ क्षेत्र में बाढ़ के दौरान नाव पर निवास का विधान है किन्तु इस का यह अर्थ कदापि नहीं कि बाढ़ उतरने के बाद आप वहां स्थायी निर्माण कर लें। आधुनिक रिवर साईंस में भारतीय लोक परम्परा के अनुरूप यह सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है कि नदी का सौ वर्षीय इतिहास उसका सीमांकन करता है। भारतीय अनुभव में देखा गया था कि कोई नदी सौ वर्ष में जितना इधर उधर हो सकती, मूल धारा स्थान परिवर्तन करती है, वही भूमि यज्ञ भूमि है। किसी भी नदी का क्षेत्रीय सीमांकन उसी आधार पर करना चाहिए।

इस सिद्धान्त का यह अर्थ कदापि नहीं कि उस समस्त भूमि के उपयोग का पूर्ण निषेध है। नदी वास का नियम है कि जिधर तटबन्ध हैं उधर घाट—मंदिर की रचना की जा सकती है लेकिन 500 गज तक किसी भी तरह की निजी सम्पत्ति का निषेध है। और नदी के मूल पेटे में नाव या घास—फूस की झोपड़ी में निवास किया जा सकता है। जो कृषक जातियाँ गर्मी की ऋतु में ककड़ी, खीरा, खरबूज—तरबूज तथा लौकी, तोरी, टिंडा, करेला आदि की खेती नदी के पेटे में करती हैं, वे कभी भी बाढ़ से पीड़ित होकर विस्थापित नहीं होतीं। नदी आधारित जीवन जीने वाली सभी जातियाँ जल कौशल के सिद्धान्तों से आज भी अवगत हैं।

‘बाढ़ नियंत्रण’ का मुहावरा आधुनिक साईंस का अहंकार है, ‘बाढ़—वरदान’ का मुहावरा भारत की लोक—विद्या आधारित जीवन शैली, जीवन विद्या का सार तत्त्व है। इसी विवेक पर आधारित समाज और संस्कृति ही भारत की सभ्यता का मूल आधार है। इसी विवेक को भारत का जल कौशल कहते हैं।

कला—कौशल में एक पक्ष निपट शिल्प कला का भी है। जल भंडारण का अलंकरण। ऐसी समस्त झील, ताल, तालाब, तलैया जो मामूली मानवीय हस्तक्षेप से बनी हैं, जैसे—मध्य प्रदेश बुन्देलखंड का भोपाल ताल, उदयपुर राज की जयसमंद, उदयपुर शहर की झीलें उनमें या तो अलंकरण होगा ही नहीं या लगभग नगण्य।

किन्तु ऐसी सभी झीलें/तालाब जिनकी रूपरेखा मानव—समाज की कल्याणशीलता का नमूना है, जैसे—बुन्देलखंड के चन्देल तालाब, बुन्देल राजाओं द्वारा निर्मित तालाब, उदयपुर का राजसमंद या उदयपुर शहर की वो झीलें जहां बड़े पैमाने पर अवरोध निर्माण करना पड़ा या जैसलमेर का गड़सीसर। यह सभी मूर्तिकला के सर्वोकृष्ट नमूने भी हैं। इस सौंदर्य को अनुपम मिश्र ने अपनी दो पुस्तकों—में भली—भांति कैमरे के कौशल में कैद किया है, और दोनों पुस्तकों में विधिवत अति सुन्दर ढंग से प्रस्तुति की है।

जिस जल कौशल का जिक्र नदारद है वह प्रयोग—उपयोग में लाए जाने वाले विविध भांडे। इस संदर्भ में मूल आकार तो कुम्हार के बनाए कर्वे,

और कुंभज (मटके) का है। बर्तन से मुँह लगा कर पानी पीने के लिए मिट्टी का कुल्हड़ अपने आप में एक अति विशिष्ट बर्तन है।

आज से पचास वर्ष पहले तक विविध धातु से बने अनेक आकार-प्रकार के घड़े, टोकनी कुंड आदि का प्रयोग सामान्य ही था लेकिन व्यापक स्तर पर मिट्टी के घड़े का प्रयोग प्रचलित था। यह तथ्य कोरी मान्यता या भावना नहीं, मिट्टी के बर्तन में पानी शुद्ध रहता है। जल की स्वनिर्मलीकरण की प्रक्रिया सर्वाधिक सक्रिय होती है।

आज (2015) से लगभग 25 बरस पहले संतोकबा दुर्लभ जी चिकित्सालय, जयपुर के शोध विभाग में डॉ. श्री गोपाल काबरा ने विधिवत प्रयोग से यह प्रमाणित किया था कि मिट्टी के बर्तन में जीवाणु नियन्त्रण बाकी सभी धातुओं की तुलना में अधिक विश्वसनीय है।

सदा-सर्वदा से लोक-मान्यता भी ऐसी है। तांबे के बर्तन, मिट्टी के जैव-नियंत्रण में कम सुरक्षित हैं लेकिन रासायनिक प्रदूषण के नियन्त्रण में मिट्टी के बर्तन से अधिक सुरक्षित हैं। लेकिन दूध, पानी उबालना हो, भोजन पकाना हो तो मिट्टी के बर्तन अधिक सुरक्षित हैं।

जल कौशल के सन्दर्भ में घरेलू भंडारण के बर्तनों की सूची साधारण नहीं, शब्द भंडार की दृष्टि से भी बड़ी संपदा है। मटकों के रूप में स्थानीय भिन्नता भी बड़ी है। उस संबंध में जो कुछ भी कला-कौशल है वह फिलहाल विशेष महत्त्व का विषय नहीं है। हम इस अध्याय की समाप्ति से पहले उस पात्र की चर्चा करना चाहते हैं जो जल की उपयोग-प्रयोग में प्रमुख पात्र था और है। इस बर्तन को उत्तर भारत में लोटा कहते हैं।

लोटा ऐसा बर्तन है जो अब से पचास-एक बरस पहले तक जीवनचर्या का प्रमुख सहायक बर्तन था। आदमी रात को सोने जाता तो सिरहाने की तरफ रात्रि उपयोग के लिये या प्रातः उठते ही प्यास बुझाने के लिए एक लोटा जल रख कर सोता।

जब तक 'संडास' (आधुनिक शौचालय) का विकास नहीं हुआ था तब तक प्रथम निवृत्ति के लिए जंगल जाता तो बस्ती-शुद्धि के लिए आधा

सेर—तीन पाव जल एक लोटे में ही ले जाता। शौच निवृत्ति के लिए निकलने से पहले लोटा मांजने, हाथ—मुंह धोने, कुल्ला करने के लिए एक लोटा जल सुरक्षित स्थान पर रख दिया जाता। स्नान करता तो एक लुटिया से ही जल सिर पर डालता। व्यक्ति जलपान, भोजन के लिए बैठता तो एक लोटा जल पहले रखवाता। भारत में सांस्कारिक समाज के लोग कुछ भी खाने से पहले, हाथ धोते, मुख शुद्धि करते, आचमन करते, ऐसे उपयोग के लिए लोटे में जल अनिवार्य ही होता।

व्यक्ति पूजा के लिए बैठता तो एक लोटा जल ले कर बैठता। पूजा समाप्त होने पर उसी लोटे के जल से सूर्य, पितरों और परमेश्वर को अर्घ्य अपर्ण करता।

यात्रा पर निकलता तो भी थैले में, कोथली में एक लोटा और डोरी लेकर ही निकलता ताकि आवश्यकता पड़ने पर लोटे में डोरी बांध कर कुएं से पानी खींच सके। व्यक्ति अमीर हो या गरीब यह स्वीकृत तथ्य था एक लोटा—डोरी की न्यूनतम पूंजी उसके पास अवश्य है। मूल बात हम यह कर रहे हैं कि विविध उपयोगों के लिए लोटे के विविध रूप उपलब्ध थे। सभी रूपों की उस अत्यंत विशाल वैविध्य का संकलन संभव नहीं। भ्रमण—तीर्थ यात्रा पर निकलते तो प्रमुख तीर्थों पर बतौर स्मृति चिन्ह— उस तीर्थ का प्रतीक लोटा अवश्य खरीदते जैसे जगन्नाथी लोटा, रामेश्वरी लोटा, हरिद्वार जाते तो गंगाजल खरीदते, जिसका मुख पेचदार ढक्कन से बंद हो जाता था।

विविध उपयोग के लोटे के विविध रंग, रूप, विविध धातु आदि का विवरण संभव नहीं, वैसा करना हो तो लोटा शब्द सागर या कोश (encyclopaedia) की रचना करनी पड़ेगी। वह बस से बाहर की बात है। हम केवल एक लोटे के आकार प्रकार और उपयोग की चर्चा कर जल कौशल के विषय का निष्कर्ष प्रस्तुत करेंगे।

शौच जाते समय जिस लोटे में वापसी पर हाथ मांजने, कुल्ला करने के लिए जल रख कर जाते, बस उस लोटे का विवरण—विश्लेषण, लोटा विज्ञान जल—कौशल का महत्व स्पष्ट करने के लिए हमारी दृष्टि में पर्याप्त है।

यह लोटा सामान्यतः मिश्रित धातु से बनता था बर्तन बनाने के कारखाने में विविध धातुओं के बर्तन थे, जैसे—पीतल, तांबा, कांसा आदि विशिष्ट धातु ढालने के बाद जो टुकड़े या धातु बच जाते उसे एकत्रित करके गला लिया जाता। इस सम्मिलित धातु मिश्रण को मुरादाबाद, जगाधरी की तरफ भरत कहा करते थे। यह लोटा मूलतः घड़े के आकार में एकदम गोल पैदी का होता है। गले की ढलान अत्यंत साधारण होती थी। इसे बेपेन्दी का लोटा भी कहा जाता था। यानी पैदी उस मिट्टी के बने रंगीन खिलौने की तरह होती है, जिसे 'उल्लू का पट्टा' कहा करते थे — उस त्रिशंकु आकार के खिलौने की यही रोचकता थी कि उसे किसी तरफ भी लिटा दो वह सीधा खड़ा हो जाता था।

गोल पैदी के लोटे का यही प्रमुख गुण था कि गंदे हाथ से स्पर्श किए बिना, कलाई के दबाव से झुका कर दूसरे गंदे हाथ पर पानी डाल लो, और तुरन्त कलाई हटा लो लोटा पुनः त्रिशंकु खिलौने की तरह सीधा हो जाएगा।

इस तरह दो—तीन बार शौच के हाथ धुलते। उस लोटे से पानी या तो कोहनी या कलाई के दबाव से गिराया जाता।

इस लोटे के गले की ढलान गहरी न हो कर थोड़ी लम्बी होती थी। पानी बहने की गति इस ढलान से नियंत्रित होती।

घर की रसोई से लेकर आंगन तक जहाँ भी हाथ धोने के लिए पानी रखना होता वहाँ इसी लोटे का उपयोग किया जाता था। कुछ भी करने से पहले हाथ धोना अनिवार्य था। सूक्ष्म व स्थूल कुल बात इतनी है कि पानी से हाथ धो लेना स्वच्छता और सभ्य जीवन का प्रतीक था।

हर काम से पहले लोटे में जल की उपस्थिति जल आधारित संस्कृति की प्रतीक थी।

यह तथ्य कई तरह से कहा गया है कि विविध उपयोग के लिए विविध रूप के लोटे होते थे। इसी तरह उपभोग की इच्छित मात्रा के अनुरूप लोटे के

आकार भी छोटे—बड़े होते थे। एक तोला जल की लुटिया से लेकर दो सेर पानी ग्रहण कर सके, उतने विभिन्न आकार के लोटे होते थे। उससे अधिक ढाई सेर पानी भरने के लिए जो लोटे के आकार का बर्तन होता है, उसे मटकी या मटकना कहते हैं।

जल का समस्त घरेलू उपयोग, या दैनंदिन चर्चा में उपभोग लोटे या लुटिया से ही होता था। विविध उपयोग के लिए सुनिश्चित आकार—प्रकार था जैसा कि हाथ धोने के लिए बे—पेन्दी व लम्बे गले का लोटा। लोटे का रूप—आकार इस तथ्य का प्रतीक है कि उपभोग के लिए प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, किंतु व्यर्थ बहाने के लिए एक बूंद भी नहीं है।

पिछले सौ बरसों में लोटा धीरे—धीरे गायब हो गया और सामान्य उपयोग टोंटी या नल से होने लगा। नल का वार्शर जल्दी—जल्दी खराब होता है। टोंटी बहती रहती है। सार संक्षेप में हमारा अनुभव आधारित निष्कर्ष है कि लोटा स्वच्छ भारत का प्रतीक था, नल गंदी नालियों का मूल कारण है।

पिछले सौ बरस से भारत हजारों बरसों में विकसित हुए जल कौशल को भूल कर टोंटी के जल पर निर्भर हुआ है। इस बुनियादी हेर—फेर से संस्कृति और समाज में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, उनकी कोई समझ हमारे समाजशास्त्रियों को अभी नहीं है।

हमें आशा है कि प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने जो स्वच्छ भारत का मिशन शुरू किया है तो जल कौशल के विषय पर समझ अर्जित भी होगी और विकसित भी।

10. निष्कर्ष पुनः गंगावतरण कैसे?

गंगा केवल हिमालय की भागीरथी नहीं है, वह गंगा सागर तक बहने वाली, गंगा को बड़ी नदी बनानेवाली अनेक सहायक नदियों का समूह है और उससे बढ़कर भारत में पवित्र जल तथा जल की पवित्रता का प्रतिनिधि है। उसके पुनः अवतरण का मतलब भी है समस्त जल राशि की पवित्रता का पुनः अवतरण। यह कार्य भी केवल नदी के घाट पर झाड़ू लगाने या नदी की आरती उतारने से पूरा नहीं हो सकता। इस महान कार्य के लिये उतने ही महान सामूहिक तप की आवश्यकता होगी। उसका मूल सिद्धांत होगा— 'घट-घट तीरथ, क्षण-क्षण अवतार'।

'घट-घट तीरथ, क्षण-क्षण अवतार'का सिद्धांत हिन्दू सांस्कृतिक बहुलता और व्यक्ति की निजता के संतुलन का विज्ञान है। प्रत्येक जन्मना व्यक्ति ईश्वर का अवतार है, उसी तरह जैसे मिट्टी का कण-कण और जल की बूंद-बूंद ईश्वर का रूप है। तीर्थ परंपरा और सांस्कृतिक वैविध्य का सिद्धांत पर्यावरण आधारित जीवन की वैज्ञानिक पद्धति भी है। प्राकृतिक पर्यावरण से लयबद्ध जीवन ही यज्ञ व्यवस्था या वैदिक जीवन प्रणाली का नाजुक आधार है। गौ पूजा वास्तव में जिजमानी (यज्ञमानी) प्रथा के सर्वोत्तम प्रतीक की पूजा है। जितने कुनबे, उतने कुल देवता और उनके अनेक पितृ देवता। जितने गांव उतने लोक देवता और ऐसा प्रत्येक स्थान जहां पशु, पक्षी, बटोही के वास्ते जल और आश्रय है, वहीं तीर्थ है। सृष्टि में जितने जीव उतने देवी-देवताओं के रूप। पर्यावरण और जलवायु में स्थानीय परिवर्तन या भिन्नता प्राकृतिक अनिवार्यता है। भिन्नता प्रकृति का निजी सुरक्षा कवच है। प्रकृति की इस भिन्नता से लोकधर्मी सामंजस्य का नाम 'वैविध्य' है। जिसका वैदिक-हिन्दू मूर्त रूप 33 कोटि देवी-देवता हैं।

जिजमानी सामाजिक व्यवस्था इसी आंतरिक तर्क और प्रकृति व मानव की संयुक्त लय पर आधारित है कि जो जितनी ऊर्जा का उपभोग करेगा वह निजी श्रम से उससे अधिक ऊष्मा सृष्टि और समाज को

लौटायेगा। ऊर्जा का उपभोग और ऊष्मा का प्रदान आधुनिक एक्सचेंज या 'जैसे को तैसा' वाली पारस्परिकता के व्यवहार पर आधारित नहीं, तीर्थ परंपरा और जिजमानी धर्म स्वभावगत आचरण पर निर्भर है। 125 करोड़ आबादी के देश में गंदे पानी एवं मल की समुचित निकासी से करोड़ों नहीं, अरबों यूनिट ऊर्जा का उत्पादन संभव है। तीर्थों, विशेषकर नदियों को प्रदूषण मुक्त बनाने के प्रयोग से जो सामाजिक ऊर्जा और पारस्परिक मंगल कामना विश्व कल्याण और नवनिर्माण के लिए उत्पन्न होगी, उसकी मात्रा का कोई अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। इसके विपरीत यह भी सुनिश्चित है कि उपयुक्त मात्रा में सामाजिक ऊर्जा का अभाव हो तो गली-मोहल्ले की किसी छोटी सी नाली को साफ करना भी संभव नहीं है। 400 करोड़ व्यय करने के बाद गंगा में प्रदूषण की मात्रा बढ़ी है, घटी नहीं। सामाजिक ऊर्जा के अभाव में तंत्र निरर्थक होते हैं।

नदी-नालों की पवित्रता और जल की व्यापक निकासी (ड्रेनेज) का जीर्णोद्धार या तीर्थ पुनर्निर्माण उस अनवरत इतिहास यात्रा का प्रतीक है, जो व्यक्ति को उसके कारण, उद्देश्य, पूर्वजों की परंपराओं से जोड़ते हुए, वर्तमान की जटिलताओं से संघर्ष की प्रेरणा देता है। इस प्रयोग में उज्ज्वल भविष्य की अनंत संभावनाओं का समावेश है। तीर्थ निर्माण कार्यक्रम में विश्व और व्यक्ति दोनों के नवनिर्माण की असीम क्षमता है, बंजर, खारी और मरुस्थली बनती धरती को पुनः सजल और सरसब्ज बनाये रखने की विधि ही तीर्थ परंपरा है।

हमारी गरीबी समाप्त करने का सर्वाधिक कारगर उपाय धरती को प्रदूषण मुक्त कर पुनः सजल बनाने का है। यह उपाय तीर्थ पुनर्निर्माण से सहज संभव है। वर्षा या वार्षिक जल का ऐसा प्राकृतिक संरक्षण संभव है, जिससे नदी, नालों और व्यापक निकासी (ड्रेनेज) की समस्त धाराओं को स्थायित्व मिल सकता है और भूमि की सजलता नियमित की जा सकती है। हिन्दुस्तान जैसे 125 करोड़ के मूलतः ग्रामीण आबादी वाले देश में स्वच्छ एवं स्वस्थ जल उपलब्ध कराने का एक मात्र उपाय स्थानीय स्तर पर प्राकृतिक जल का संरक्षण और झरने, नदी, नालों में बहते पानी की अविरलता है। इससे अतिरिक्त कारगर उपाय नहीं। स्थानीय जल को नष्ट करके हिमालय या आल्प्स के पानी से इतने बड़े देश में इंसान और जमीन की आधी चौथाई

प्यास भी नहीं बुझाई जा सकती फिर आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के चलते तो हिमालय ही सूखता जा रहा है क्योंकि उसकी जल संरक्षण शक्ति का प्रतिदिन ह्रास हो रहा है।

जल संरक्षण के दो ही सिद्धांत हैं— पहला, जल का संरक्षण उसी स्थान एवं उसके आसपास के नैसर्गिक संग्रह क्षेत्र पर हो सकता है, जहां जल की बूंद बरसती है। जब पृथ्वी पर गिरी बूंद अपने स्थान से बहुत आगे बढ़ जाती है तब उसके संरक्षण का प्रयास अनर्थकारी नहीं, तो भी अवैज्ञानिक तो है ही। इसकी चर्चा हो चुकी है। अब जरूरत है इस दृष्टि से काम करने की। धरती यदि अंदर से सजल होगी तो ऊपर की मामूली सिंचाई भी पर्याप्त होगी। इसलिए ध्यान देने का विषय जल की प्राकृतिक अविरलता है न कि बांध बनाकर उसमें गतिरोध पैदा करना।

जीवन के लिए जल का अविरल बहना उतना ही अनिवार्य है जितना कि जल का संरक्षण। जल के समुचित संरक्षण और पर्याप्त एवं अविरल बहाव में संतुलन ही तीर्थ परंपरा का आधार है। जल संरक्षण से संबंधित कार्यक्रम छोटे से छोटे स्तर का हो या नर्मदा और टिहरी जैसे मैगा डैम का हो, जल संरक्षण के दोनों प्राथमिक सिद्धांतों का प्रतिपालन अनिवार्य है। आज जिस तदर्थवादी अवैज्ञानिक तरीके से जल—भरण—क्षेत्र—विकास कार्यक्रम चल रहा है, यह बहुत खतरनाक है। इसके निकट एवं दूरगामी भविष्य में क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं, इसका सहज अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता है।

वार्षिक वर्षा के आधार पर लगभग 40 करोड़ हेक्टेयर लीटर पानी प्रति वर्ष भारत देश को उपलब्ध होता है। तीर्थ विज्ञान के अनुसार यदि इसमें से आधे पानी के नियमित एवं 'निर्मला' बहने की परिस्थिति पुनर्स्थापित कर दी जाये तो इस देश की बेकारी और समस्त दुनिया की भूख का निराकरण संभव है। लगभग इतना पानी आज भी समुद्र में जाता है मगर अवैज्ञानिक रीति से। जलनीति के संदर्भ में पानी का गणित गौण विषय है, महत्त्वपूर्ण तथ्य पानी की संस्कृति का है। इस तथ्य की सूझबूझ में ही भारत देश का नवनिर्माण संभव है। देशज जल प्रबंधन से अन्य या अतिरिक्त कोई उद्यम उद्योग नहीं जिसके माध्यम से व्यापक बेरोजगारी को चुनौती दी जा सके।

जल एवं तीर्थ पवित्रीकरण के संदर्भ में हरिद्वार, मथुरा, काशी में छिटपुट प्रयास पिछले चार दशक से चल रहे हैं। ऐसे स्वतः प्रेरित प्रयासों और विशिष्ट मठों एवं अखाड़ों के साधू-संत समुदायों के संयुक्त सहयोग से इस आंदोलन को व्यापक रूप देने का प्रयास करना चाहिए। हर गांव, कस्बे और नगर के निजी महत्त्वपूर्ण तीर्थ हैं। प्रयास यह होना चाहिए कि गांव-गांव, नगर-नगर ओजस्वी युवजनों में यह प्रेरणा जागृत की जाय कि वह स्वतःस्फूर्त ऊर्जा से स्थानीय तीर्थ पुनरुद्धार समिति का गठन करें जो अपने तीर्थ क्षेत्र जल, नगर, मंदिर आदि को स्वच्छ एवं निर्मल बनाने का संकल्प करें। ये समितियां तीर्थ चेतना के साथ-साथ स्थानीय स्वावलंबन और म्युनिसिपल स्वराज के लिए आंदोलन का नेतृत्व भी करें क्योंकि लोक स्वराज और स्थानीय स्वावलंबन के अभाव में कोई निर्मलीकरण संभव ही नहीं है।

स्थानीय स्तर पर किसी क्षेत्र को उतना ही जल उपयोग में लाने का अधिकार है, जितना वह स्थानीय स्तर पर आकाश से पाते हैं। यदि अपने निजी क्षेत्र के पानी का उपयोग वह बीमारी और मच्छर पैदा करने के लिए कर रहा है तो उसे यह अधिकार बिल्कुल नहीं है कि वह किसी दूर-दराज के क्षेत्र से उसके हिस्से का पानी छीन ले। स्थानीय उपलब्धि और आवश्यकता में जो कमी-बेसी है, उसकी आपूर्ति के लिए राष्ट्रीय समन्वय, बाढ़, जलापूर्ति आदि के आधार पर नियम-कानून बनाये जा सकते हैं। लेकिन किसी भी सूरत में आज जैसी जल-अराजकता का विचार नहीं चलेगा कि दिल्ली (शहर और सूबा) अपने प्राकृतिक जल को गंदा नाला बना देगा या भाप बना कर उड़ा देगा, एक बूंद भी संजोयगा नहीं और मांग करेगा हिमालय के पानी में हिस्से की।

धींगा-धींगी से पानी की समस्या का निराकरण संभव नहीं है। आम नागरिक के स्तर पर इस विवेक को तभी स्वीकारा जा सकता है जब कि जल की संस्कृति और उपलब्धि की सीमा का वास्तविक ज्ञान आम आदमी को होगा। पिछले 200 वर्ष में जल एवं अन्य प्राकृतिक संसाधनों के संदर्भ में हमारे शिक्षित वर्ग का अज्ञान बहुत विस्तृत हुआ है। आधुनिक साईंस की करामात है।

भाखड़ा, टिहरी और सरदार सरोवर बांधों को तोड़ने के लिए कौन राजी हो जाएगा? इन सबको तोड़ेगे नहीं तो हिंदू सभ्यता का क्या होगा? हिंदू

की नदी गंगा माता ही नहीं होगी तो हिंदू के लिए 'स्थान' कहाँ होगा। किसी तरह भी समस्या पर विचार करें आध्यात्मिक चेतना के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता उपलब्ध नहीं है। आध्यात्मिक शक्ति के माध्यम से तो यह प्रयास किया जा सकता है कि गंगा मां सभी को 'सद्बुद्धि का वरदान दे। व्यक्ति/समूह/संस्था चाहे इधर हों या उधर हों। सभी को दुराग्रह से मुक्त करे।' जो योद्धा अध्यात्म बल से परिपूर्ण होते हैं, वही अंतिम प्राण तक संग्राम में डट पाते हैं। आध्यात्मिक चेतना होगी तो संवाद होगा, वर्ना हुज्जत के अलावा और कुछ न होगा।

गंगा जमुना के दोआब में शुरू करें सृजन

यह तीर्थ चेतना और गंगा अवतरण का ही एक सृजनात्मक रूप है। अन्य बातें जब गंगा को प्रतीक मान कर की जाएं तो सृजन के प्रयोग की सहज अनुकूल भूमि तो गंगा-जमुना का दोआब ही होगी। गंगा जमुना का दोआब तीन ऐसे लोक देवताओं की जन्म स्थली है, जिसने संयुक्त रूप में भारतीय मानस की रचना की है। केदार नाथ से प्रयागराज तक शिव, राम और कृष्ण के आख्यान की क्रीड़ा स्थली है। यह बिल्कुल महत्त्वपूर्ण नहीं है कि ये तीनों लोक देवता अवतार पुरुष हैं, या साधारण जन या केवल आख्यान। निर्णायक तथ्य यही है कि भारत भूमि का लोक मानस इन तीन आख्यानों पर आधारित है। बहुत दूर तक याददाश्त कुरेदने पर ऐसा आभास होता है कि कुरुक्षेत्र में महाभारत संग्राम के बाद से हाल-फिलहाल तक दोआब का अंचल सत्ता शिरोमणि बेशक रहा हो किंतु इस क्षेत्र की विद्या एवं संस्कृति के विषय में कोई सार्थक योगदान अथवा संवेदनशील भागीदारी दिखाई नहीं पड़ती है।

आंचलिक स्मृति में महाभारत के बाद से आज तक ऐसा कोई कालखंड दिखाई नहीं पड़ता जब क्षेत्रीय स्तर पर ईश्वर/प्रकृति की अतिविशेष कृपा के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करने का युग रहा हो। यहां शायद स्पष्ट रूप से कहना होगा कि जिसे स्थानीय गौरव नहीं है, उसे राष्ट्रीय गौरव नहीं हो सकता। यदि हम स्थानीय स्तर पर गंगा की महिमा से जुड़े नहीं हैं तो राजकपूर के फिल्म बना देने और यह गाना सुना देने से कि 'हम उस देश के वासी हैं, जिस देश में गंगा बहती है', न तो गंगा का गौरव स्थापित हो सकता

है, न गंगा सुरक्षित रह सकती है। गंगा का निश्चल बहना एक अर्से से अवरुद्ध है। प्राकृतिक वैविध्य के संदर्भ में चिंता नगण्य ही है। आम की, गेहूं—चावल, दालों की हजारों हजार किस्में पिछले पचास बरस में लुप्त हो चुकी हैं। भौगोलिक दृष्टि से देखा जाए तो यह दोआब उत्तर भारत की सीमाओं तक सीमित है लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो दोआब हिंदुस्तान का हृदय स्थल भी है और मस्तिष्क भी। किंतु पिछले 300 से 500 बरस में दोआब का पराक्रम निरन्तर घटता हुआ दिखाई पड़ता है। हम राजनीतिक बात नहीं कर रहे हैं। हम मूलतः ज्ञान—विज्ञान, कला कौशल और सांस्कृतिक चेतना की बात कर रहे हैं। दोआब के वासी तो यह तथ्य सिर से भूल गया है कि वह भरत वंश—कुरु वंश का मूल वारिस है और कौरवी उसकी मातृ भाषा है।

गलत बातों के विरोध के साथ—साथ सृजन भी उतना ही आवश्यक है। गलत बातों के विरोध की बात करते समय लोग पूछ सकते हैं कि तब आगे क्या? कैसी होगी सुधारी हुई नदी और कैसी होगी स्वर्ग के समान धरती और इस पर रहने वाला समाज? इस प्रश्न का उत्तर अनिश्चित सुदूर भविष्य में क्यों? इसलिये स्वर्ग के समान धरती और समाज के सृजन का कार्य भी अभी से जरूरी है।

गंगा जमुना का दोआब केवल हिंदुस्तान नहीं बल्कि समूची दुनिया में जैव वैविध्य की दृष्टि से समृद्धतम स्थली है। गंगा घाटी के पनडाल की दृष्टि से इसके भौगोलिक क्षेत्र का अवलोकन करें तो यह एक विशाल भू—भाग है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह असाधारण विस्तार और प्रभाव का क्षेत्र है। अमूमन पिछले दो एक सौ बरस से हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र को मैदानी दोआब से अलग देखने की परिपाटी डल गई है और मैदानी दोआब तीन हिस्सों में बंट गया है, पश्चिमी दोआब — अम्बाला, सहारनपुर, बिजनौर से लेकर आगरा बरेली तक, उसके आगे कानपुर तक मध्य दोआब और उससे आगे इलाहाबाद तक पूर्वी दोआब का क्षेत्रीय विस्तार है।

पचास बरस पहले सहारनपुर के इलाके में लाल पौंडा (गन्ना) होता था, आज किसे पता है कि वह नस्ल बची है या नहीं? बिजनौर क्षेत्र सारे विश्व में गुड़, खाड़, बूरा मिश्री आदि के मिठास के लिए प्रसिद्ध था, आज तो हमें

याद भी नहीं कि ऐसा कोई वैशिष्ट्य था जो लुप्त हो गया। जरा कल्पना कीजिए कि फ्रांस और जर्मनी अपनी अंगूरी (शराब) के महत्त्व को भूल जाते तो क्या उनका दुनिया में यही स्थान होता जो आज है? आप स्वयं विचार कीजिए कि ऐसा राष्ट्रवाद, जिसमें से गांव-कस्बे-मंडल/तहसील जिले और आंचलिक स्तर का गौरव नदारद हो। वह कैसा 'राष्ट्र गौरव' होगा? पाखंड पूर्ण राष्ट्र गौरव देश की सुरक्षा के लिए खतरनाक है।

पांडव भी कुरु वंश की संतान थे लेकिन कुरु धृतराष्ट्र वंशजों को अपना पूर्वज मानने में मानसिक अड़चन होती हो तो केवल पांडवों को अपना पूर्वज मान लें। पश्चिमी दोआब यानी कौरव देश अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञभाव जीना नहीं सीखे तो चाहे राष्ट्रीयता की बात करें या अंतर्राष्ट्रीयता की, वह सब ढकोसले से अधिक नहीं हो सकती। अंतर्राष्ट्रीयता या राष्ट्रीयता का मूल्य तो तभी हो सकता है जब कोई पूर्वज-परंपरा का इतिहास होगा। उनका बलिदान होगा, शहादत होगी। जिस कौम और वाद के पूर्वज नहीं होते, न तो ऐसी कौम टिकाऊ होती है और न ही ऐसे वाद टिकाऊ होते हैं। बात चाहे दर्शन की हो, चाहे संगीत कला की और चाहे कुम्हार के घड़े की, जिसकी वंश परम्परा नहीं है, उसके माल का कोई महत्त्व नहीं है। दर्शन और विचार भी गुरु परम्परा से चलते हैं और परम्पराएं मूलतः आंचलिक ही होती हैं।

हो सकता है कि पूर्वजों ने कोई अनर्थ किया होगा, कोई पाप हुआ होगा लेकिन पूर्वजों के अस्तित्व को नकार कर या वंशावली को भुलाकर कभी कोई कौम ऊपर नहीं उठी। बहरहाल पूर्वजों का स्मरण करने से नाक कटती हो तो उसे विषय के केन्द्र बिंदु से हटा सकते हैं। पश्चिमी दोआब या समस्त गंगा घाटी गंगा-जमुना की माया है। राजा भगीरथ के आख्यान को भूलना चाहें तो भूल सकते हैं, इन नदियों की जो प्रत्यक्ष माया और महिमा है, उसे तो पहचानना होगा। उससे जुड़ना होगा, उसका गुणगान करना होगा, उसकी रक्षा के लिए संकल्प और सामर्थ्य जुटानी होगी।

गंगा तो प्रकृति प्रदत्त है। हमारे इलाके का इंसानी करिश्मा भी साधारण नहीं रहा। गंगा-जमुना तो अपने रास्ते बहती थीं लेकिन वह इसलिए संभव था कि हम गांव-गांव में जल संजोते कुण्ड और तालाब का

निर्माण करते थे और पुनरीकरण करते थे। इस मानव प्रयास से ही गंगा और जमुना का नियमित प्रवाह सुरक्षित होता था। सर्दियों में शुष्क मानसून अरब—ईरान से वापिस लौटता था तो इसी मानव निर्मित छोटे—छोटे सागरों से जल उठाता था। मैदानी क्षेत्र में जल बरसाता था और हिमालय में बर्फ। हमारी परम्परा में जल संरक्षण का संबंध विराट प्रकृति से संबंधित था न कि व्यक्तिगत या स्थानीय स्वार्थ से। ऐसा कोई काम जो समष्टि के हित के विरुद्ध हो वह अंततः निज स्वार्थ के लिए भी घातक सिद्ध होगा।

यह तो स्वप्रमाणित तथ्य है कि प्रकृति ने इस क्षेत्र पर अनुपम कृपा की है। गंगा व जमुना का दोआब केवल भारतीय परम्परा की देव भूमि नहीं, संसार के सभी आख्यान इस संदर्भ में एकमत हैं कि भारत का दोआब समस्त मानवजाति की देव भूमि है। बाइबिल और कुरान में इन धर्मों के प्रथम पुरुष एवं प्रकृति—आदम और हौवा की कहानी है। नेक अल्लाह ने अपने चहेतों के लिए जिस जन्नत की रचना की थी, आदम और हौवा उसी बहिश्त में विचरते थे किंतु माया से अभिभूत होकर आदम हौवा ने फल चख लिया तो उन्हें जन्नत से बाहर भेजना पड़ा। तब अत्यंत कृपालु खुदा ने जमीन पर एक जन्नत की रचना की थी। गंगा जमुना का दोआब वही चमन है, जहां ईश्वर से अलग होने पर उसके प्रथम नुमाइंदा (संतान) जमीन पर आकर बसे।

हमारे इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जो कुछ दोआब में नहीं है, वह नेक खुदा की अपनी जन्नत में भी नहीं है। इस दोआब में केवल खिरनी, लीची, रसभरी और आम और शहतूत जैसे मीठे फल ही नहीं होते बल्कि यहां की गंदुम में भी गुड़ की मिठास भरी होती थी। केवल आम पचास हजार किस्म का नहीं होता, यहां लीची भी दर्जनों किस्म की होती है। साल के 365 दिन में ऐसा दिन नहीं जब यहां के बाग—बगीचों में मिठास से परिपूर्ण बहार न फल—फूल रही हो। प्रकृति ने दोआब में ऐसे पुरुष की रचना की है, जो कुशलता से हर किस्म की खेती, पशुपालन, हुनर, इल्म सीख कर हर वो चीज पैदा कर सकता है, बना सकता है, जो दुनिया के किसी भी कोने में होती है या बनाई जाती है।

कुछ लोगों को हमारे इस बयान पर अचरज हो सकता है, लेकिन जो कुछ प्रत्यक्ष है, उसे प्रमाण की जरूरत नहीं होती। सिंधु नदी बंट गई, ब्रह्मपुत्र

बंट गई लेकिन गंगा और जमुना के दोआब को नहीं बांटा जा सका। मुसलमानों की, यानी कुरान शरीफ पर इमान रखने वालों की, जितनी आबादी दोआब या गंगा घाटी में उपलब्ध है इतनी दुनिया के अन्य किसी अंचल में नहीं। हमारे इलाके में इस्लाम के मदरसे तो हैं ही, कुरान और शरियत के सबसे अधिक और उच्च कोटि के विद्वान इसी इलाके के बाशिन्दे हैं। पाक ओ पवित्र गंगा खुदाई दरिया है, और दुनिया का सबसे अधिक पानी लेकर बहती है, जो कि अपने आप में इलाही शफा मयस्सर कराती है। गंगा—जमुनी तहजीब इसी इलाके में पैदा हुई है। इस इलाके की विविध हुनरमंदी इस बात का सबूत है कि दोआब सिर्फ सर्वाधिक नदियों का संगम ही नहीं बल्कि, समूचे विश्व में प्रचलित संस्कृतियों और विद्याओं का संगम भी है।

दोआब के खुदाई चमन की शान में कोई कसीदा आधा अधूरा ही रहेगा। यह ऐसा चमन है जहां कड़क सर्दी भी पड़ती और उस ठंड में गुलाब भी खिलते हैं। इस इलाके में मधुमक्खियां जो शहद एकत्रित करती हैं वह मौसम के फल—फूलों की सुगंध से सुवासित होता है। दोआब/गंगा घाटी की महिमा पर एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के आकार का विश्वकोष संकलित किया जा सकता है। जिस दिन दोआब में अपने गौरव की स्मृति वापिस होगी, उस दिन दोआब विश्वकोष की रचना अवश्य होगी ऐसा हमारा विश्वास है।

हमें विश्वास है कि दोआब समाज सृजन और निर्माण के लिए प्रेरित होगा तो समूचा, राष्ट्र इस प्रयोग के महत्त्व को समझेगा और सभी आंचलिक समाज निज मेधा और गौरव का आकलन कर राष्ट्र निर्माण की नई दिशा निर्धारित करेंगे।

आगामी 100—200 वर्ष में ऐसा हो सकता है कि हिंदू धर्म का ऐसा उदार, उदात्त, बहुमुखी, बहुलवादी (जो आदि वैदिक हिन्दू धर्म की मूल परंपरा है) सांस्कृतिक, सामाजिक विकास और विस्तार हो जाय कि समस्त दक्षिण एशिया वासियों को हिन्दू या हिन्दुस्तानी कहलाने में गौरव का अनुभव होने लगे और इस क्षेत्र के मतावलंबी भी अपने को 'आदि हिन्दू' जैसी किसी भौगोलिक, सांस्कृतिक संज्ञा से संबोधित करने लगे। इस स्वप्न को संजोने की संभावना उस परंपरावादी हिंदुत्व की धारा में है, जो 16 वीं—17 वीं सदी तक विकसित हो रही थी।

‘अखंड भारत’ की नदियों की एकता तभी कायम होगी, जब दिलों की एकता का वातावरण कायम होगा। मादरे वतन का आत्म गौरव स्वतः स्फूर्त ही हो सकता है—मात्र आडम्बर नहीं।

अपनी बात

‘भारत का जल धर्म’ विषय पर एक गुटका संकलित करने का विचार कदापि नया नहीं। मार्च, 1983 में जब राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र में अकाल की विभीषिका का रौद्र तांडव हो रहा था, उसी के प्रत्युत्तर में ‘पानी चेतना’ आंदोलन के संकल्प का जन्म हुआ था।

एक बरस तक समस्या का प्राथमिक अध्ययन करने के बाद अप्रैल 1984 में –सुश्री हेमलता प्रभु (कानोडिया महिला कॉलेज जयपुर, की सेवा निवृत्त प्रिंसिपल) की अध्यक्षता में पानी चेतना समिति का गठन किया गया था। पानी चेतना समिति में जो विमर्श बना उसके फलस्वरूप ‘पानी मार्च’ यानी जल संकट को समझने के लिए लम्बी पद यात्राओं के संकल्प का उदय हुआ था।

यूनाइटेड नेशंस युनिवर्सिटी के तत्वाधान में अकाल सर्वेक्षण तो तत्काल शुरू हो गया था, पानी मार्च का श्री गणेश अक्टूबर 1985 में संभव हो सका था।

प्रथम यात्रा शेर गढ़ के जैन मन्दिर (बस स्टैन्ड के निकट) के प्रांगण से 14 या 15 अक्टूबर को आरम्भ हुई थी। यह ठीक याद है कि प्रथम प्रयास में शेर गढ़ पंचायत समिति के 12 गाँवों का सर्वेक्षण कर 25 अक्टूबर की प्रातः हम तेना गाँव से बाहर निकल रहे थे और दोपहर तक शेरगढ़ पहुंच कर एक जनसभा में पहली यात्रा का समापन करना था।

बस तभी तेना गाँव की सरहद पर हम सात साथियों और एक घोड़ी पर लदा सामान देखकर चन्द ग्रामीण महिलाओं ने हमसे पूछा था :
‘थें कुण हो?’ (आप लोग कौन हैं?)

हम सातों साथी और आठवीं सदस्य हमारा सामान ढोने वाली घोड़ी मौन थी। ग्रामीण महिलाओं ने सूझा कर पूछा था :

‘थें महाराज हो?’ (यानि जैन साधू, जो हमेशा ही पैदल यात्रा करते हैं)।
हमें फिर भी कोई उत्तर नहीं सूझा था।

‘महाराज नी हो तो कोई यात्री बोल राखी है?’ (साधु नहीं हो तब क्या कोई तीर्थ यात्रा का संकल्प पूरा करना है?)

हम सातों में से, शायद किसी एक ने सिर हिलाकर इस प्रश्न का उत्तर ‘नहीं’ दे दिया था।

तब किस एक महिला ने बात को फिर आगे बढ़ा कर पूछा था।

‘यात्रा नी बोल राखी, तो पगा क्युं चलो, थारे कनै पिसा को नी?’ (यात्रा भी नहीं बोल राखी है तो पैदल क्युं चल रहे हो? तुम्हारे पास बस में यात्रा करने के लायक पैसे नहीं हैं क्या?)

इतनी तहकीकात हो जाने पर साथी सांग सिंह तंवर ने उत्तर दिया था

:-

हम अकाल की परिस्थिति का सर्वेक्षण कर रहे हैं, समूचे मारवाड़ के गांवों में पैदल चलकर जाएंगे। सत्य का शोध करेंगे और जो देख पाएंगे, समझ सकेंगे, उसकी रपट बनाएंगे, उससे सभी को सूचित करेंगे।

जहाँ तक याद है महिलाएं संख्या में पाँच थीं तेना गांव की निवासिनी थीं। शायद खेतों में कुछ काम करके संभवतः तुम्बे या चारा एकत्रित कर लौट रही थीं।

हमारी बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुईं। उन सभी ने विस्तार से अपनी कठिनाई का बयान किया था। अपना दुःख-दर्द सुना कर पूछा था— रात कहां बिताई?

ठाकुर चैन सिंह सरपंच की कोठड़ी पर।

सुबह दस बजे के लगभग समय रहा होगा। महिलाओं ने अत्यंत सत्कार की भाषा में पूछा था कि ठाकुर ने नाश्ता-पानी करवा दिया है या नहीं?

नितान्त अपरिचित महिलाओं की बोली में गंभीर आदर-सत्कार और स्वागत था। आवभगत का आग्रह था। अपरिचय के बावजूद महिलाओं के स्वागत में निःसंकोच मिठास थी। उसका स्मरण आज तक बड़ी सामाजिक पूंजी की तरह

सुरक्षित है। अपने देश के ग्रामीण जन की सहभागिता पर एक भरोसा है।

उस दिन यह समझ (विवेक) बिल्कुल नई थी कि ग्रामीण महिलाओं के सामाजिक संस्कार और सरोकार अत्यंत व्यापक हैं उन्होंने फैक्ट्री-स्कूल नहीं देखा है, इसलिए उन्हें अनपढ़-अज्ञानी मान लेना हमारा औपनिवेशिक संस्कार है।

घटना 25 अक्टूबर 1985 की है। यह तथ्य स्मृति पर अंकित है। पिछली शाम रेडियो पर समाचार सुने थे उससे यह स्मरण था कि हमारी टोली संयुक्त राष्ट्र-स्थापना दिवस की शाम तेना गांव पहुंची थी।

ठाकुर चैन सिंह हमें पंचायत घर से अपनी ढाणी (जो मूलगांव से एक-डेढ़ किलोमीटर दूर थी) ले गए थे। वहीं उनकी कोठड़ी (पुरुषों की बैठक, जो घर से थोड़ा अलग होती है) में रात ठहरने की व्यवस्था हुई थी।

उस समय ठाकुर चैन सिंह की आयु 65 बरस के आसपास की थी। उनकी स्मृति के अनुसार उनका जन्म पहली लड़ाई के एक-दो बरस बाद का था।

दूसरी बड़ी लड़ाई में वह स्वयं शामिल हुए थे और पश्चिम एशिया के किसी मोर्चे पर लड़े भी थे। पेंशनर फौजी हैं इसलिए समर्थ व्यक्ति हैं। जब से पंचायत राज लागू हुआ है, गांव के सरपंच हैं।

देर रात तक राष्ट्रीय राजनीति और विश्व व्यवस्था पर उनके साथ गहरा और लम्बा संवाद हुआ था। भारतीय राजनीति की गहरी समझ और गोपनीय सूचनाओं से मेरा पहला साबका था। मैं उस ग्रामीण व्यक्ति की समझ और जानकारी से आश्चर्यचकित था।

ठा. चैन सिंह ने राजनीति व प्रशासनिक व्यवस्था के संबंध में जो पाठ उस दिन ढाई-तीन घंटों के संवाद में पढ़ा दिया वह लोक विद्या आख्यान की धरोहर है। संविधान को कारगर बनाने का मूल मंत्र है। उस विषय की मौखिक प्रस्तुतियाँ तो विभिन्न विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों में लगभग एक दर्जन बार कर चुका हूँ। ऐसा विश्वास है कि विधिवत प्रकाशन भी शीघ्र संपन्न हो सकेगा।

तेना गाँव की दो घटनाओं का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ— ताकि

पदयात्रा—तीर्थयात्रा का सम्बन्ध और ज्ञान के क्षेत्र में इसके महत्त्व को स्पष्ट कर सकूँ।

पानी चेतना यात्रा कुल मिलाकर मई 1987 तक टुकड़ों में चली थी। अंतिम कड़ी जैसलमेर के तन्नोट—सीमांचल से चल कर जयपुर पहुंची थी। इस यात्रा के आयोजन में किसी व्यवस्थित संगठन का संबल उपलब्ध नहीं था।

व्यक्तिगत स्तर पर सहयोग तो बहुत मिला सोलंकीयातला गांव के हम्मीरा राम पूरी यात्रा में मेरे साथ रहे। सरपंच नरपत सिंह राठौर, पटवारी श्रेणीदान, चौधरी गोरधन पुनिया, जैसलमेर के चन्द्रप्रकाश व्यास, फलौदी के प्रकाश छंगाणी, कन्हैया लाल पुरोहित, यूनाइटेड न्यूज आफ इंडिया ब्यूरो प्रमुख गुलाब बत्रा एवं उनकी पत्नी शशि बत्रा, सुचेता कृपलानी शिक्षा निकेतन ग्रामीण विकास विज्ञान समिति के लक्ष्मीचंद त्यागी तथा जोधपुर विश्वविद्यालय में प्राणी शास्त्र विभाग प्रमुख एस.एन. मुहनोट और न जाने कितने व्यक्तियों ने सहयोग किया। मैं सभी का कृतज्ञ हूँ। बंबई के (मूलतः झुझुनं जिले में बगड़ गांव के) बाबुलाल माखरिया परिवार (उनकी पुत्री उषा पारिख एवं आशा हरलालका सहित) ने पानी मार्च के आयोजन में 25,000 रुपए का एक मुश्त सहयोग किया था। बिल्कुल आरंभिक दौर में परमजीत सिंह उर्फ निक्कु ने 5,000 रुपए जुटाए थे। उसी राशि से यह कार्य शुरू हो सका था। पद यात्रा के दौरान कुछ दिन उदयपुर की प्रसिद्ध समाजवादी नेता रजियाबानो तहसीन साथ चली थी और उन्होंने भी 5,000 रुपए का सहयोग किया। भाई लक्ष्मीचंद त्यागी ने निरंतर सहयोग जुटाया था। अन्य सभी सहयोग नित्य भिक्षा के आधार पर हुआ था। जन सहयोग पर बहुत विस्तार से लिखने का संकल्प है। भारत भूमि पर किसी भी अच्छे काम के लिए जन-सहयोग सहज ही उपलब्ध है।

जो कुछ सीखा, लोक विद्या में गति पाई, वह अद्भुत ज्ञान कोष है। उसी विद्या की गपशप से पिछले 25 बरस से पेट पाल रहा हूँ। सामाजिक—राजनीतिक कार्यकर्ता होने का दम्भ कर पा रहा हूँ।

ग्यारह बरस की आयु से भारतीय राजनीति में सक्रिय रहा हूँ। 74 वर्ष की आयु पूरी हो गई है। संभवतः जो भी संस्कार विकसित हुआ उसके चलते विधिवत काम करने में असमर्थ रहा हूँ। समाजवादी आन्दोलन की अव्यवस्था का गहरा प्रभाव है। दोष ग्रहण करने के लिए मैं स्वयं जिम्मेदार हूँ। वर्ना जार्ज

फर्नाडिस जैसे अनुशासित व्यक्ति से बहुत कुछ सीख सकता था लेकिन उतनी तीव्र महत्वाकांक्षा का अभाव था ।

मार्च 2014 में पहली बार कूल्हा टूटा, कुछ महीनों में जुड़ गया । चलने-फिरने लायक हो गया था । जनवरी 2015 में दुबारा टूट गया, अब शायद कभी जुड़ने की उम्मीद नहीं है । सब गतिविधि बंद होने का एक लाभ यही हो सकता है कि जो कुछ लोक विद्या, सूचनाएं आदि पिछले 25-30 बरस में एकत्रित की हैं, उनकी विधिवत जुगाली करूं और जो कुछ पच जाए उसे परोसना शुरू कर दूं । दादी कलावती का सामान्य मुहावरा था : हरि इंशा-संभवतः इसलामी 'ईंशा अल्लाह' का देसी अनुवाद । पुनः 'जैसी, हरि इच्छा, होगी' ।

सैडेड संयोजक विजय प्रताप के दबाव में 'जलधर्म' संकलन के प्रकाशन का संकल्प पारित हो गया । जो दस्तावेज मिल सके, वह सब विद्वान मित्र आचार्य रवीन्द्र कुमार पाठक को भिजवा दिए । किसी तरह पाठक जी ने, 'कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा, भानूमति ने कुनबा जोड़ा' के आधार पर कुछ कांट-छांट कर संकलित कर दिया है । डॉ. आंकार मित्तल तो पिछले 20 बरस से मेरी प्रेरणा के अजस्र स्रोत हैं । उन जैसे साधू की मित्रता का संबल मेरे जीवन की सर्वाधिक मूल्यवान निधि है ।

पाठकों से एक ही प्रार्थना है कि आलोचना टीका-टिप्पणी में कंजूसी न करें ।

कृतज्ञ भाव से
अरुण कुमार
ए- 301, जनसत्ता आवास समिति, वसुन्धरा गाजियाबाद - पिन : 201012
Email : akpanibaba@gmail.com